शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६६ ☆ वर्ष २१वाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ११

आध्यात्मिक-पद

पर को मालिक बन तो आयो, पर में जीव लगायो,
संकल्प विकल्प करतो आयो, मिथ्यामद में छायो ॥१॥
बरजोरी जग होतो आयो, रोकन नहीं कोई पायो।
कभी नहीं कोई निकल न पायो, कैसे तो पर में छायो ॥२॥
अपने काम नित आप ही आयो, विश्व काम नहीं आयो।
विश्व नियम जब आयो समझ में, आत्म महासुख पायो ॥३॥
ज्ञायक जीवन आयो ज्ञान में, ज्ञान महासुख पायो।
सम्यग्दर्शन पायो वीरवर, आतम दर्शन पायो ॥४॥
उल्लसित जीवन आयो आज दिन, हर्षित जीवन आयो।
सुंदर जीवन आयो आज दिन, आनंद मंगल छायो ॥५॥

(आत्मार्थी)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२५१]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विषय सूची

	विषय
१.	परम वैराग्य और क्षमामूर्ति सुकौशल मुनिराज
२.	जैन शासन
३.	पन्द्रह मिनिट
४.	अध्यात्म सन्देश
५.	संत परोसते हैं : परमात्मा का प्रसाद
६.	पद्मनंदी पच्चीसी (दान अधिकार)
७.	देहातीत सिद्धपद की प्राप्ति का उपाय
८.	आत्मा का वर्तन (आचरण) कैसे सुधरे ?
९.	भक्तामर स्तोत्र (प्रवचनकार श्री कानजी स्वामी)
१०.	भगवती-आराधना
११.	ज्ञान दीपक चिरंजीवो
१२.	पंच परमेष्ठी के स्मरण से विघ्न दूर होते हैं
१३.	भजन
१४.	सम्यग्दर्शन के लिये आत्मार्थी का उल्लास और निर्विकल्प अनुभूति
१५.	तत्त्वचर्चा
१६.	श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र
१७.	अनेकांत का प्रयोजन
१८.	जीव और कर्म दोनों स्वतन्त्र हैं
१९.	समाचार संग्रह

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६६ ☆ वर्ष २१वाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ११

परम वैराग्य और क्षमामूर्ति
सुकौशल मुनिराज

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अति सुंदर मगध देश है। जहाँ के लोग पुण्यवंत थे और योग्य एवं लोकमर्यादारूप प्रवर्तते थे। उसी मगध देश में राजगृही नगर अति ही शोभे है। राजगृही नगर में इन्द्र समान राजा श्रेणिक राज्य करते थे, जिसके चेलना नामक रानी महा पतिव्रता, शीलवंती, गुणवंती, रूपवंती, कुलवंती और शुद्धसम्यग्दर्शन को धरनेवाली थी। एक दिन विपुलाचल पर्वत पर अंतिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर परमात्मा समवसरण सहित आय विराजे थे। भगवान के आगमन का वृत्तान्त वनपाल ने राजा श्रेणिक से कहा, तब राजा ने सिंहासन से उठकर सात पैंड पर्वत के सन्मुख जाय, भगवान को अष्टांग नमस्कार किया और वनपाल को अपने सब आभरण उतारकर पारितोषिक में देकर और भगवान के दर्शन करने के लिये चलने की तैयारी करता भया। राजा हाथी पर चढ़कर नगर से समवसरण को चले। समवसरण में जाकर भगवान श्री महावीर का अतिभाव से और आनंद से दर्शन-पूजन किये, दिव्यध्वनि सुनी और बाद में भगवान के समीप विराजते गौतम गणधर से 'नमोस्तु' कहकर कुशल पूछा और प्रश्न किया कि हे भगवन्! मैं श्री कीर्तिधर और सुकोशल मुनिराज का चरित्र सुनने की भावना रखता हूँ, सो आप प्रभो! कृपाकर हमें सुनाईये।

राजा श्रेणिक का प्रश्न सुनकर श्री गणधरदेव अपने दाँतों की किरण से जगत को उज्ज्वल करते गंभीर मेघ की ध्वनि समान भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार व्याख्या करते भये। श्री मल्लिनाथ के मुक्ति गये पीछे मुनिसुव्रतनाथ के अंतराल विषैं भरतक्षेत्र के अयोध्या नगर में एक

विजय नामक राजा हुआ था। उसकी हेमचूलनी नामक महारानी से महा गुणवान सुरेन्द्रमन्यु नामक पुत्र हुआ। सुरेन्द्रमन्यु की कीर्तिसमा नामक रानी से दो पुत्र हुये। एक वज्रबाहु—दूसरा पुरन्दर। दोनों चंद्र-सूर्य समान कांतिवाले और महा गुणवान थे। वे दोनों भाई अयोध्या नगर में सुख से रमते थे। अनुक्रम से अयोध्या का राज्य पुरन्दरकुमार को मिला, क्योंकि इस संसार को अनित्य और अशरणरूप जानकर शाश्वत और सदा शरणरूप भगवान आत्मा के आश्रय से शांति प्राप्ति के लिये दादा विजय और पिता सुरेन्द्रमन्यु ने जिनदीक्षा धारण कर ली थी। पुरन्दर की पत्नी पृथिवीमती ने कीर्तिधर नामक पुत्र को उत्पन्न किया। वह पुत्र समस्त प्रसिद्ध गुणों का मानो सागर ही था। अपनी सुंदर चेष्टा से समस्त बंधुओं की प्रसन्नता को बढ़ाता हुआ विनयी कीर्तिधर क्रमक्रम से यौवन को प्राप्त हुआ। तब राजा पुरन्दर ने उसके लिये कौशल देश के राजा की पुत्री स्वीकृत की। इस तरह पुत्र का विवाह कर राजा पुरन्दर विरक्त हो घर से निकल पड़ा। गुणरूपी आभूषणों को धारण करनेवाले राजा पुरन्दर ने क्षेमंकर मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर कर्मों की निर्जरा का कारण कठिन तप करना प्रारम्भ किया। इधर शत्रुओं को जीनेवाला राजा कीर्तिधर कुलक्रमागत राज्य का पालन करता हुआ देवों के समान उत्तम भोगों के साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करने लगा।

किसी दिन शत्रुओं को भयभीत करनेवाला प्रजावत्सल राजा कीर्तिधर, अपने सुन्दर भवन के ऊपर नलकूबर विद्याधर के समान सुख से बैठा हुआ सुशोभित हो रहा था कि उसकी दृष्टि राहु विमान की नील कांति से आच्छादित सूर्य मंडल पर पड़ी। उसे देखकर वह विचार करने लगा कि अहो! सूर्य भीषण अंधकार को नष्ट कर चंद्रमंडल को कांति हीन कर देता है तथा कमलों के वन को विकसित करता है, वह सूर्य राहु को दूर करने में समर्थ नहीं है। जिसप्रकार यह सूर्य नष्ट हो रहा है, उसीप्रकार यह यौवनरूपी सूर्य भी जरारूपी ग्रहण को प्राप्त कर नष्ट हो जावेगा। इसप्रकार समस्त संसार को अनित्य मानकर राजा कीर्तिधर ने सभा में बैठे हुए मंत्रियों से कहा कि अहो मंत्रीजनों! इस सागरांत पृथिवी की आप लोग रक्षा करो। मैं तो मुक्ति के मार्ग में प्रयाण करता हूँ। राजा के ऐसा कहने पर विद्वानों तथा बंधुजनों से परिपूर्ण सभा शोक को प्राप्त हो, उससे इसप्रकार बोली कि हे राजन! आपका राज्य छोड़ने से यह पृथ्वी सुशोभित नहीं होगी। हे उन्नत पराक्रम के धारक! अभी आपकी नयी अवस्था है, इसलिए इंद्र के समान राज्य करो।

इसके उत्तर में राजा ने कहा कि जन्म, जरा और मृत्यु से भरी हुई इस पृथ्वी को देखकर मुझे भारी भय उत्पन्न हो रहा है, मैं शीघ्र आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। जब मंत्रीजनों को राजा के दृढ़

निश्चय का बोध गया, तब उन्होंने बहुत विनती से युक्त वचन कहे। जिसप्रकार आपके पिता ने प्रजा की रक्षा के लिये आपको राज्य देकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये तपश्चरण किया था, उसीप्रकार आप भी अपने इस कुल धर्म की रक्षा कीजिये। कुशल मंत्रियों से इसप्रकार कहने पर राजा कीर्तिधर ने नियम किया कि जिस समय मैं पुत्र को उत्पन्न हुआ सुनूँगा, उसी समय मुनियों का उत्कृष्ट पद अवश्य धारण कर लूँगा। जिसके भोग और पराक्रम इंद्र के समान थे तथा जिसकी आत्मा सदा सावधान रहती थी, ऐसे राजा कीर्तिधर ने सब प्रकार के भयों से रहित तथा व्यवस्था से युक्त दीर्घ पृथ्वी का चिरकाल तक पालन किया। राजा कीर्तिधर के साथ चिरकाल तक सुख का उपभोग करती हुई रानी सहदेवी ने सर्व गुणों से परिपूर्ण एवम् पृथ्वी के धारण करने में समर्थ पुत्र को उत्पन्न किया। पुत्र जन्म का समाचार राजा के कानों तक न पहुँच जावे, इस भय से पुत्र जन्म का उत्सव नहीं किया गया तथा इसी कारण कितने ही दिन तक प्रसव का समय गुप्त रखा गया। किसी दरिद्र मनुष्य ने (इनाम) पुरस्कार पाने के लोभ से राजा को उसकी खबर दे दी। राजा ने हर्षित होकर उसके लिये मुकुट आदि दिये तथा विपुल धन से युक्त सौ गाँवों के साथ घोष नाम का मनोहर शाखानगर दिया। और माता की महा तेजपूर्ण गोद में स्थित उस एक पक्ष के बालक को बुलवाकर उसे बड़े वैभव के साथ अपने पद पर बैठाया तथा सब लोगों का सन्मान किया। उसके उत्पन्न होने पर वह कौशलनगरी वैभव से अत्यंत मनोहर हो गई थी। इसलिये उत्तम चेष्टाओं को धारण करनेवाला वह बालक सुकौशल इस नाम को प्राप्त हुआ। राजा कीर्तिधर भवनरूपी कारागार से निकलकर तपोवन में पहुँचे और तप सम्बन्धी तेज से वर्षा काल से रहित सूर्य के समान अत्यंत सुशोभित होने लगे।

जो घोर तपस्वी थे, पृथ्वी के समान क्षमा के धारक थे, जो निर्मानी एवं धीर थे, जो युग प्रमाण अर्थात् चार हाथ प्रमाण मार्ग में दृष्टि डालते हुए चलते थे, जो स्वभाव से ही मत्त हाथी के समान मन्द गति से चलते थे, जो विकार शून्य थे, जो चित्त की एकाग्रता से सहित थे, विनीत थे, लोभरहित थे, आगम अनुसार आचार का पालन करते थे, मुनिपदरूपी लक्ष्मी से सहित थे और जिन्होंने चिरकाल का उपवास धारण कर रखा था, ऐसे कीर्तिधर मुनिराज भ्रमण करते हुए गृह पंक्ति के क्रम से प्राप्त अपने पूर्व घर में भिक्षा के लिये प्रवेश करने लगे। उससमय उनकी गृहस्थ अवस्था की स्त्री सहदेवी झरोखे में दृष्टि लगाये खड़ी थी, सो उन्हें आते देख परम क्रोध को प्राप्त हुई। क्रोध से उनका मुँह लाल हो गया। ओंठ चाबती हुई उस दुष्टा ने द्वारपालों से कहा कि यह मुनि घर को फोड़नेवाला है, इसलिये यहाँ से शीघ्र ही निकाल दिया जाये। मुग्ध, कोमल और स्वभाव से

ही कोमल चित्त के धारक, सुकुमार जब तक इसे नहीं देखता है, तब तक शीघ्र ही दूर कर दो। यही नहीं; यदि मैं और भी नग्न मनुष्यों को महल के अंदर देखूँगी तो हे द्वारपालो! याद रखो मैं अवश्य ही तुम्हें दंडित करूँगी। यह निर्दय जब से शिशु पुत्र को छोड़कर गया है, तभी से इन लोगों में मेरा संतोष नहीं रहा है। महादेवी के इसप्रकार कहने पर जिनके मुख से दुर्वचन निकल रहे थे तथा जो हाथ में पात्र (लकड़ी आदि) धारण कर रहे थे, ऐसे दुष्ट द्वारपालों ने उन मुनिराज को दूर से ही शीघ्र निकाल दिया। इन्हें ही नहीं, राज भवन में विद्यमान राजकुमार धर्म का शब्द न सुन लें, इस भय से नगर में जो और भी मुनि विद्यमान थे, उन सबको नगर से बाहर निकाल दिया।

इसप्रकार मुनिराज का अपमान देखकर जिसको भारी शोक हो रहा था और जो भक्ति से युक्त थी, ऐसी सुकौशल की धाय चिरकाल बाद अपने स्वामी कीर्तिधर को पहचान कर गला फाड़-फाड़कर रोने लगी। उसे रोती सुनकर सुकौशल शीघ्र ही उसके पास आया और सांत्वना देता हुआ बोला कि हे माता! कह, तेरा अपकार किसने किया है? तू मेरी माता से भी अधिक गौरव को प्राप्त करती है, इसलिये तेरा अपमान करनेवाले को मैं दण्ड देने के लिये तैयार हूँ। तदनंतर बसंतलता

नामक धाय ने बड़े दु:ख से आंसुओं की धारा को कम कर सुकोशल से कहा कि तुम्हारे जो पिता शिशु अवस्था में ही तुम्हारा राजाभिषेक कर संसाररूपी दु:खदायी पंजर से भयभीत हो तपोवन में चले गये थे, आज वे भिक्षा के लिये आपके घर में प्रविष्ट हुए, सो तुम्हारी माता ने अपने अधिकार से उसे द्वारपालों के द्वारा अपमानित कर बाहर निकलवा दिया। उसे अपमानित होते देख मुझे बहुत शोक हुआ और उस शोक को मैं नहीं रोक सकी। इसलिये मैं रो रही हूँ। निर्ग्रन्थ मुनि को देखकर तुम्हारी बुद्धि वैराग्यमय न हो जावे, इस भय से नगर में मुनियों का प्रवेश रोक दिया गया है। परंतु तुम्हारे कुल में परम्परा से यह धर्म चला आया है कि पुत्र को राज्य देकर तपोवन की सेवा करना।

तदनंतर वसंतलता धाय के द्वारा निरुपित समस्त वृत्तांत सुनकर सुकोशल शीघ्रता से महल के अग्रभाग से नीचे उतरे। और छत्र, चमर आदि राज्य-चिह्नों को छोड़कर कमल समान कोमल पैरों से पैदल ही चल पड़े। लक्ष्मी से सुशोभित थे तथा मार्ग में लोगों से पूछते जाते थे कि यहाँ कहीं आप लोगों ने उत्तम मुनिराज को देखा है ? इस तरह परम उत्कंठा से युक्त सुकोशल राजकुमार पिता के समीप पहुँचे। इसके जो छत्र धारण करनेवाले आदि सेवक थे, वे सब व्याकुल चित्त होते हुए उसके पीछे दौड़ते आये। जाते ही राजकुमार सुकोशल ने प्रासुक, विशाल और उत्तम शिला पर विराजमान अपने पिता कीर्तिधर मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। उसने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से लगाये तथा घुटनों और मस्तक से पृथ्वी का स्पर्श कर बड़े स्नेह के साथ उनके चरणों में नमस्कार किया। वह हाथ जोड़कर विनय से मुनिराज के आगे बैठ गये। उन्होंने मुनिराज से कहा कि आप प्रसन्न हूजिये तथा आपने स्वयं जिस दीक्षा को धारण किया है, वह मेरे लिये भी दीजिये। उसीसमय वहाँ सब सामन्त और सुकोशल की स्त्री विचित्रमाला भी गर्भ को धारण करती अंत:पुर के साथ वहीं आ पहुँची और दीक्षा की बात सुनकर सब रोने लगी ! तदनंतर सुकोशल ने कहा कि विचित्रमाला के गर्भ में पुत्र है तो उसके लिये मैंने राज्य दिया, ऐसा कहकर राज्य परिवार को तृण सम जानकर अंतर-बाहर परिग्रहों को छोड़कर निर्ग्रंथ साधु हो गये और वे पिता श्री कीर्तिधर मुनिराज के साथ विहार करने लगे।

मिथ्यादृष्टि तथा पाप करने में तत्पर रहनेवाली सहदेवी रानी (सुकोशल मुनिराज की माता) आर्तध्यान से मरकर तिर्यंच योनि में उत्पन्न हुई और बाघन हुई। पिता-पुत्र वन जंगल में आगम अनुसार विहार करते थे और इच्छा निरोधरूप और चैतन्य में प्रतपनरूप महान तप करते थे। विहार करते-करते एक विशाल और भयंकर श्मशान में पिता-पुत्र दोनों आये और चातुर्मास के

उपवास धारण कर वहाँ समय पसार किया। कार्तिक मास की पूर्णिता व्यतीत होने पर तपस्वी जब उन स्थानों में से विहार करने लगे और पारणा के निमित्त नगर में जाने के लिये उद्यत हुए। उसी समय एक बाघन जो पूर्व भव में सुकोशल की माता और कीर्तिधर मुनिराज की पत्नी थी, उन्हें देखकर क्रोध से भर गई। जिसका मुख दाढ़ों से भयंकर था, पीले-पीले नेत्र थे और नखों के द्वारा भूमि खोद रही थी, ऐसी बाघन ने जीभ का लाल-लाल अग्रभाग लबलबाकर सुकोशल स्वामी पर ऊँची छलांग भरी। सुंदर शोभा को धारण करनेवाले दोनों मुनिराज, उसे छलांग भरती देख, यदि उपसर्ग से बचे तो आहार-पानी ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं—ऐसी सालंब प्रतिज्ञा लेकर निर्भय हो कायोत्सर्ग से खड़े हो गये। वह दया हीन व्याघ्री सुकौशल मुनि के ऊपर पड़ी और नखों के द्वारा उनके मस्तक आदि अंगों को विदारती हुई पृथ्वी पर आई। उसने उनके समस्त शरीर को चीर डाला जिससे खून की धारायें बहने लगीं। पर्वत समान अकंप और क्षमामूर्ति भगवान सुकोशल अपने निज आनंदमय आत्मा में मस्त थे और स्व उपयोग को अंतर्मुख करके एकाग्र हो गये थे। वह पापिनी उनके सामने खड़ी होकर तथा नाना प्रकार की चेष्टाएँ कर उन्हें पैर की ओर से खाने लगी। गौतम स्वामी राजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे श्रेणिक! मोह की चेष्टा तो देखो! जहाँ माता ही प्रिय पुत्र के शरीर को खाती है।

बाद में मेरु के समान स्थिर और शुक्लध्यान को धारण करनेवाले सुकोशल मुनिराज को शरीर छूटने के पहले ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। सुर-असुरों ने इन्द्र के साथ आकर बड़े हर्ष से दिव्य पुष्पादि संपदा के द्वारा उनकी पूजा की। सुकोशल मुनिराज के पिता कीर्तिधर मुनिराज ने भी उस बाघन को मधुर शब्दों से सम्बोधी, जिससे संन्यास धारण कर वह स्वर्ग गई। बाद में उसी समय कीर्तिधर मुनिराज को भी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, सो महिमा को करनेवाले देवों की वही एक यात्रा पिता और पुत्र दोनों का केवलज्ञान महोत्सव करनेवाली हुई। सुर और असुर केवलज्ञान की परम महिमा फैलाकर तथा दोनों केवलियों के चरणों को नमस्कार कर यथायोग्य अपने अपने स्थान पर गये। गौतमस्वामी कहते हैं कि जो पुरुष सुकोशल स्वामी के माहात्म्य को पढ़ता है, वह उपसर्ग से रहित हो चिरकाल तक सुख से जीवित रहता है।

[नोंध—सच्चे ज्ञान द्वारा देखो तो संयोग कोई अनुकूल-प्रतिकूल नहीं है, संयोग दुःखदाता नहीं है। देह में ममत्व-राग किया जाये तो दुःख होता है, भेदविज्ञान द्वारा आत्मा में लीन होने से सुख ही होता है।] (श्री रविषेण आचार्यदेवकृत पद्मपुराण में से)

जैन शासन

जैन शासन का अर्थ क्या ? जिसको जानने से अवश्य मुक्ति हो, उसे जैन शासन कहते हैं।

किसे जानने से अवश्य मुक्ति होती है ?

आत्मा के शुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव को शुद्धनय से जो देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है और उसकी अवश्य मुक्ति होती है।

राग जैन शसन है कि नहीं ?

नहीं; राग जैन शासन नहीं है, उसीप्रकार राग की ओर का ज्ञान भी जैन शासन नहीं है।

तो जैन शासन क्या है ?

अंतर्मुख भावश्रुतज्ञान द्वारा जो इस भगवान शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिन शासन की अनुभूति है। इसप्रकार शुद्ध आत्मा ही जिन शासन है।

जिन शासन में राग का भी कथन तो है ?

पदार्थों के स्वरूप की पहिचान कराने के लिये जिन शासन में कथन तो सभी का आता है। परंतु इसी कारण उस सबको तो जिन शासन नहीं कहा जाता। जिन शासन में तो पापों का भी वर्णन आता है तो क्या पापभाव भी जिन शासन है ? शुद्ध आत्मा की अनुभूति बिना जिन शासन का ज्ञान नहीं किया जा सकता।

राग और निमित्तों का ज्ञान करना जिन शासन है कि नहीं ?

अकेले राग और निमित्त वगैरह के जानने में ही रुक जाये, परंतु शुद्ध आत्मा के स्वभाव की ओर ज्ञान को न लगावे तो वह जीव जिन शासन में दीक्षित नहीं हुआ है, क्योंकि जिन शसन में केवल राग और निमित्तों का ही कथन नहीं है, परंतु उसमें राग और निमित्तों से अतीत ऐसे शुद्ध आत्मा का भी प्रधान कथन है। और उस शुद्ध आत्मा को, राग को तथा निमित्त इन सबको जो जानता है, उस जीव का ज्ञान शुद्ध आत्मा की ओर गये बिना रहता ही नहीं, और राग आदि से विमुख हुए बिना रहे ही नहीं। इसप्रकार स्वभाव-विभाव और संयोग इत्यादि सबको जिन शासन के अनुसार जानकर शुद्धनय का अवलंबन कर जो जीव अपनी आत्मा को शुद्धरूप से अनुभवता है, वही जिनशासन में आया है, और उसी ने संपूर्ण जिनशासन को जाना है—ऐसा जीव अल्प काल में अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। ●●

पन्द्रह मिनिट

एक बार चर्चा में पूज्य स्वामीजी ने आत्मार्थी के हित की बात करते हुए वात्सल्यभाव से कहा कि—आत्मार्थी जीव को अपने आत्महित के लिये हमेशा स्वाध्याय और मनन जरूर करना चाहिये। जिसे आत्मा की लगन लगी है, वह स्वाध्याय और मनन वगैर एक भी दिन खाली नहीं जाने देता। जिस तरह किसी व्यसनी पुरुष को अपने व्यसन की चीज़ बिना एक भी दिन नहीं चल सकता; उसीप्रकार आत्मार्थी पुरुष को स्वाध्याय, मनन का व्यसन (लगन) लग जाता है। जैसे भी बने, उस प्रकार सद्गुरु के साक्षात् सत् समागम में रहकर आत्मा का श्रवण-मनन करना चाहिये और जब ज्ञानी गुरुओं का सत्समागम का योग नहीं बन सके, तब उनकी आज्ञानुसार शास्त्र का वांचन और मंथन करना चाहिये। 'प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहिं तहां आधार सुपात्र' प्रत्यक्ष सद्गुरु के संपर्क में रहकर श्रवण-मनन करना, यह तो उत्तम है, परंतु जब सद्गुरु के प्रत्यक्ष संपर्क में स्वयं न हो, तब उनके द्वारा निर्दिष्ट आत्मस्वरूप बतलानेवाले सत्शास्त्रों का स्वाध्याय और मनन करना, यही सुपात्र जीवों के लिये आधाररूप है। श्रावकों के सर्वदा करनेयोग्य छह कर्तव्यों में स्वाध्याय को भी एक कर्तव्य गिना है। रोज रोज नये नये प्रकार के वांचन-मनन से आत्मार्थी जीव अपने ज्ञान की निर्मलता बढ़ाता जाता है। किसी भी प्रकार के संयोग में अथवा किसी भी प्रवृत्ति में पड़ा हो तो भी हमेशा २४ घंटों में से एक दो घंटे का समय तो स्वाध्याय-मनन में लगाना ही चाहिये। अरे! कुछ भी न हो... तो कम से कम हमेशा पाव घंटे की छुट्टी लेकर एकांत में शांतिपूर्वक आत्मा का स्वाध्याय और विचार करना ही चाहिये। हमेशा पाव घंटा वाचन-विचार में लगावे तो भी महीने में साढ़े सात घंटे हो जाते हैं, तथा हमेशा-हमेशा सत् का स्वाध्याय-मनन करने से अंतर में उसका संस्कार ताजा रहता है और उसमें दृढता बढ़ती जाती है। जो स्वाध्याय-मनन बिल्कुल छोड़ देता है, उसका संस्कार भी समाप्त हो जाता है। थोड़ा-सा समय निकाल कर आत्मा का विचार करने के लिये भी जिसे फुरसत नहीं है तो पीछे विकल्प तोड़-तोड़कर आत्मा के अनुभव करने का अवसर उसे कहाँ से मिलेगा? अतएव आत्मार्थी जीवों को चाहिये कि चाहे वे किसी भी स्थान पर हों अथवा किसी भी प्रवृत्ति में हों परन्तु अमुक समय हमेशा उन्हें निश्चितरूप से सत् का स्वाध्याय

और मनन करना ही चाहिये। 'मानो कि मैं जगत से छूटा हुआ हूँ, जगत के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है, जगत के किसी काम का भार मेरे ऊपर नहीं है, मैं तो असंग चैतन्य-तत्त्व हूँ'—इस रूप से निवृत्त होकर घड़ी दो घड़ी तो अपनी आत्मा का चिंतन-मनन करना चाहिये। सत्पुरुष की वाणी का बारंबार अंतर में चिंतन और मनन करना यह अनुभव का उपाय है।

सम्यग्दृष्टि के उज्ज्वल परिणाम

सम्यग्दृष्टि के परिणाम उज्ज्वल हैं, उस उज्ज्वलता को वे ही जानते हैं; मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते।

मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा है; अन्तरात्मा की गति बहिरात्मा क्या जानेगा?

★

अध्यात्म-संदेश

पूज्य श्री कानजीस्वामी ने जिस अध्यात्मसंदेश को बम्बई के आजाद मैदान में बने विशाल मंडप में छह सात हजार जिज्ञासुओं की भव्य सभा में सुनाया था, उसका थोड़ा सा नमूना अध्यात्मप्रेमी वाचकों के लिये यहाँ दिया जाता है।

इस समय भी चैतन्यमूर्ति आत्मा इस देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप तत्त्व है। वह स्वतंत्ररूप से अपने कार्य का कर्ता है; वह जड़ के कार्य का कर्ता नहीं है। अब अज्ञानी स्वयं में क्या कार्य करता है? और ज्ञानी स्वयं में क्या कार्य करता है? यही यहाँ बतलाते हैं। अन्दर (अंतरंग) में ज्ञान से विरुद्ध राग अथवा द्वेष की जो भावनाएँ होती हैं, उन्हीं विकारी भावनाओं को निजस्वरूप समझकर अज्ञानी उसका कर्ता होता है। यह अज्ञानी का कार्य है और यही अधर्म है, यही दुख और संसार है। ज्ञानी तो राग की वृत्तियों से पार निजस्वरूप को जाननेवाला होने के कारण अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता होता है। ऐसा उसका जो वीतरागी ज्ञानभाव है, वही धर्म है, वही ज्ञानी का कार्य है।

अरे भाई! जगत में तू दूसरे का क्या करेगा? जगत में अनेक तरह के प्राणी, विविध स्वभाव

के मनुष्य हैं, इनमें तुझे किसे ठीक करना है ? क्या तेरी इच्छा के अनुसार जगत चलनेवाला है ? यह देह अनंत परमाणुओं के मिलने से बनी है। ये अनंत रजकण भी तेरी इच्छानुसार चलनेवाले (परिणमनेवाले) नहीं हैं। अरे, बाहर के काम तो दूर रहो किंतु अंदर के भाव में होनेवाली जो रागरूप शुभाशुभ वृत्ति, उससे भी पार वीतराग का मार्ग है। भाई, वीतराग का मार्ग अलौकिक है। जिस मार्ग से सिंह गया, उस मार्ग से हिरन नहीं जाते... उसीप्रकार धर्म के रक्षक केसरी-सिंह ऐसे जो तीर्थंकर भगवान हैं; उनका वीतराग मार्ग अलौकिक है। राग से धर्म होता है और देह की क्रिया का मैं कर्ता—ऐसी समझवाला जीव वीर के वीतरागमार्ग में नहीं आ सकता। वीतरागी पुरुषार्थ का ललकार करता हुआ मुमुक्षु जो जगा तो वह राग में नहीं अटकता। श्रद्धा का वीतरागभाव सम्यग्दृष्टि को भी प्रगट हुआ है और स्वर्ग के इन्द्र भी आत्मा की ऐसी धर्मकथा सुनने के लिये मध्यलोक में भगवान की सभा में आते हैं।.....अध्यात्म की ऐसी बात सुनने का जिसे प्रेम जगता है, उसको भी बहुत उच्च जाति के पुण्य का बंध होता है और अंतरंग में जो निर्मल तत्त्व को यथार्थतया समझें, स्वसंवेदन करें, उसका तो कोई अपूर्व कल्याण होता है।

ऐसी अध्यात्म की बात सुनने का सुअवसर तो बड़े भाग्य से कभी ही मिलता है।

संत परोसते : परमात्मा का प्रसाद

भाई, परमात्मा ने परोसा हुआ यह तत्त्व तुझे संत प्रसाद के रूप में देते हैं। संतजन सारे लोक को आमंत्रण देते हैं कि अरे जगत के सर्व जीवो! तुम ऐसे परम आनंदमय आत्मतत्त्व को प्राप्त करो, इस चैतन्य के शांतरस में मग्न होओ। यह परमात्मा को प्रसादी है, उसके स्वाद का अनुभव करो। चैतन्य को भूलकर जगत को राजी करने में यह जीव रुकाया।—उसमें कोई कल्याण नहीं; इसलिये अरे भगवान! तू स्वयं अंतर में लक्ष्य कर स्वानुभव से राजी हो न! परमात्मा की यह प्रसादी संत तुझे देते हैं, इसलिये राजी हो-आनंदित हो। तू राजी हुआ तो सभी राजी ही हैं। दूसरा राजी हो अथवा न हो; वह उसमें रहा। तू तेरे आत्मा को सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान से प्रसन्न कर। तेरा आत्मा रीझकर राजी हुआ-आनंदित हुआ, वहाँ संसार के साथ तेरा क्या संबंध है ? प्रत्येक जीव स्वतंत्र है। इसलिये तू दूसरों को प्रसन्न करने की अपेक्षा तू तेरे आत्मा को प्रसन्न कर। तीन लोक का नाथ जहाँ प्रसन्न हुआ, वहाँ वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और परम आनंद का दातार है। अरे जीवो! एक बार तो ऐसा अनुभव करके आत्मा को प्रसन्न करो। [समयसार, गाथा ३८ के प्रवचन में से]

पद्मनन्दी पच्चीसी (दान अधिकार)

(देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के पोषक इस दान अधिकार को स्वामीजी ने अनेक बार प्रवचनों में वांचा है।)

इस शास्त्र में आचार्य ने 'दान अधिकार' का सुन्दर रीति से वर्णन किया है। इसके अंत में आचार्य ने कहा है कि—''अज्ञानी जीवों को लोभरूपी गहरे कुएं की खोह में से बाहर निकालने के लिये यह दान अधिकार कहा गया है। परंतु यह किसे रुचेगा? जिन्हें आत्मा की जरूरत होगी, ऐसे कोमल हृदयवाले भव्य जीवों को तो यह सुनकर आनंद आयेगा—परंतु जो लक्ष्मी आदि के बहुत लोलुपी होंगे, ऐसे जीवों को यह उपदेश नहीं रुचेगा। भौंरा गुंजन करता हुआ जब फूल के ऊपर बैठता है तो यदि कमल का फल होता है तो फौरन खिल जाता है परंतु यदि पत्थर का फूल हो तो नहीं खिलता। उसीप्रकार अध्यात्मरस के गुंजन से भरे इस दान अधिकार को सुनने पर जो कमल के समान कोमल हृदयवाला भव्य आत्मा होगा, उसका हृदय कमल तो हर्ष से खिल उठेगा परंतु जो पत्थर जैसे कठिन कलेजेवाला होगा, उस पर इस तत्त्व से भरे दान के उपदेश का कोई असर नहीं होगा। इसीप्रकार प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है, विकाररहित स्वभाववाला है; अपने स्वाधीन स्वभाव के अवलंबन से प्रत्येक जीव परमात्मा हो सकता है''—इसप्रकार अपने स्वभाव का महत्त्व संतों के श्रीमुख से सुनकर भव्य जीवों का मन तो नाच उठता है, और उनका चैतन्य कमल खिल जाता है।

देहातीत सिद्धपद की प्राप्ति का उपाय

(प्रवचनसार गाथा १६० के प्रवचन से।
वीर सं० २४८९ कार्तिक कृष्णा ३०)

भगवान महावीर परमात्मा पावापुरी से देहातीत सिद्धदशा को प्राप्त हुए... ऐसी देहातीत दशा प्राप्त करने से पूर्व भगवान ने कैसा निर्णय किया था? वह यहाँ बतलाया है। मेरा आत्मा देहातीत है, देह के साथ उसका कोई संबंध नहीं है—ऐसी अंतरंग प्रतीति करे, तभी साधकत्व का विकास होता है और तभी देहातीत दशा को प्राप्त भगवान की सच्ची पहिचान होती है।

भगवान महावीर आज अशरीरी सिद्धपद को प्राप्त हुए.. आज उनने पूर्णानंद सिद्धपद प्राप्त किया... इन्द्रों ने मोक्ष कल्याणक मनाया... 'प्रमोद'—मोद अर्थात् आनंद, उसकी पूर्णतारूप सिद्धपद—मोक्षपद आज भगवान ने प्राप्त किया... शरीर का संयोग था, वह भी आज छूट गया, उदयभाव सर्वथा छूट गया और सिद्धपदरूप पूर्ण क्षायिकभाव को प्राप्त हुए। उससे पूर्व साधकदशा में कैसा निर्णय था? वह प्रवचनसार, गाथा १६० में कहते हैं:—

णाणं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥१६०॥

आज भगवान ने अशरीरी सिद्धपद प्राप्त किया, इसलिये आज यह शरीर से भिन्न अशरीरी भाव की गाथा पढ़ी जा रही है।

संवत् १९७८ में जब पहली बार समयसार हाथ में आया और देखा तो ऐसा लगा कि यह समयसार अशरीरीभाव बतलाता है। अहा! भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने श्री सीमंधर भगवान से लेकर-बिल्कुल अशरीरी चैतन्यभाव बतलाया है। बिल्कुल अशरीरी सिद्धपद के लिये प्रथम उसका निर्णय करना चाहिये।

धर्मी जानता है कि मैं शरीर से अत्यंत भिन्न चैतन्यमय हूँ। मेरा चैतन्यस्वभाव इस शरीर-मन-वाणी का कर्ता नहीं है, करानेवाला नहीं है और अनुमोदन करनेवाला भी नहीं है। अहो! भगवन आज अशरीरी हुए। २४८९ वर्ष पूर्व हुए और आज २४९०वाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ। भगवान सिद्धालय में पावापुरी की समश्रेणी में विराजमान हैं। जहाँ से शरीर छूटे, उसी के ठीक ऊपर सीधी

श्रेणी में लोकाग्र में भगवान विराजते हैं। सम्मेदशिखर से अनंत भगवंतों ने मोक्ष प्राप्त किया है, वे वहीं सादि-अनंत काल तक विराजमान रहेंगे। उनके स्मरण के लिये तीर्थस्थान हैं। अशरीरी पूर्ण ज्ञानघन आत्मा एक समय में स्वाभाविक ऊध्वर्गति से लोकाग्र में पहुँचकर अनंत काल तक वहाँ विराजते हैं। संसार की अपेक्षा सिद्धदशा अनंतगुनी है। संसारदशा अनंतवें भाग थी किंतु उसमें एक स्थान नहीं था; चार गतियों में भ्रमण था और यह सादि अनंत परमात्म सिद्धपद प्रगट हुआ... वहाँ उसका स्थान भी अचल हो गया। भाव पूरा हुआ और स्थान अचल हुआ। क्षेत्र से वह चलायमान नहीं है, तथा काल से भी अब कभी उसका अंत नहीं है। भाव से भी पूर्ण है। अहो! ऐसा सिद्धपद शरीर के साथ सर्वथा संबंधरहित अशरीरी पूर्णानंदमय है, उसे भगवान ने आज प्राप्त किया।

पहले साधकदशा में भगवान शरीर, मन, वाणी आदि को भिन्न द्रव्यरूप समझते थे। मैं तो चैतन्यपिण्ड हूँ और यह शरीर तो पुद्गल पिण्ड है, वह परद्रव्य है। मैं शरीर-मन-वाणी को परद्रव्य समझता हूँ, इसलिये मुझे उसका पक्षपात नहीं है। मेरा उसमें किंचित् अधिकार नहीं है। जिसे अपना कर्तव्य माने, उसमें पक्षपात हुए बिना नहीं रहता। परंतु देहादि में मेरा कर्तव्य है ही नहीं, इसलिये उसमें मेरा किंचित् हित-अहित नहीं है, इसलिये मैं उसके प्रति बिल्कुल मध्यस्थ हूँ; बिल्कुल अकर्ता हूँ। वचन निकले, शरीर चले, उसका आधार मैं नहीं हूँ। उस अचेतन का आधार अचेतन है।—ऐसे भिन्न चैतन्य की प्रतीतिपूर्वक भगवान ने मोक्षदशा साधी।—ऐसा निर्णय करे, उसको भगवान की पहिचान कही जाती है। ऐसा निर्णय करना, वह मूल मंगल महोत्सव है।

देखो, यह अन्तरंग में अशरीरी सिद्धपद का महोत्सव! यह सच्ची दीपावली!!

अशरीरी होना हो, कलेवर से रहित होना हो, उसे शरीर से अत्यंत भिन्नता का निर्णय करके उसके कर्तृत्व की बुद्धि छोड़ना चाहिये। कर्तृत्वबुद्धि छूटे बिना मध्यस्थता नहीं होती और मध्यस्थता के बिना वीतरागता नहीं होती। मेरा स्वरूप पुद्गल की क्रिया का आधार नहीं है, मेरा स्वरूप तो मेरे अनंत ज्ञानादि का ही आधार है और शरीरादि की क्रिया का आधार पुद्गल ही है। मेरे बिना ही उसके कार्य स्वयं होते हैं। भगवान का आत्मा आज शरीररहित अतीन्द्रिय हुआ, उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा अशरीरी चिदानंदस्वरूप ही है। वर्तमान में भी आत्मा ऐसा ही है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीवों! तुम ऐसे आत्मा को श्रद्धा में लो... शरीर तो पुद्गल का पिण्ड है, वह तो आज सुंदर होगा और कल सड़ जायेगा... उस पर आत्मा का किंचित् अधिकार नहीं है। आत्मा ध्यान रखे तो अच्छा रहे और आत्मा ध्यान न रखे तो बिगड़ जाये—ऐसा संबंध बिल्कुल

नहीं है। अहो! आत्मा अशरीरी है, वह शरीर का आधार नहीं है। ऐसे आत्मा को जाननेवाले धर्मात्मा को शरीरादि का पक्षपात नहीं है; अत्यंत मध्यस्थता है। आत्मा शरीर का साधन नहीं है और शरीर आत्मा के धर्म का साधन नहीं है। आत्मा कर्ता या साधन हुए बिना ही शरीरादि पुद्गल अपने कार्यरूप से स्वयमेव परिणमित होते हैं। ऐसी भिन्नता की प्रतीति के बिना अशरीरी सिद्धपद की सच्ची पहिचान नहीं होती। भगवान आत्मा अशरीरी है, अतीन्द्रिय है, उसके निर्णय के बिना अशरीरी पद की साधकदशा नहीं होती। शरीर या इन्द्रियों को सहायक माने, आत्मा उनके कार्य का कर्ता, कारण या आधार है, ऐसा माने तो उसने अशरीरी आत्मा को नहीं जाना और अशरीरी सिद्धपद को भी नहीं पहिचाना है। सारा जीवन शरीर के कार्यों को अपना मानकर व्यतीत कर दिया, किंतु अब जागे तभी सवेरा! अर्थात् जहाँ शरीरादि से भिन्न आत्मा की सम्यक् प्रतीति हुई, वहाँ भेदज्ञानरूपी सुप्रभात उदित हुआ। अरे जीवो! तुम्हारा आत्मा इस एकक्षेत्र में स्थित शरीर के कार्य में भी कारणरूप नहीं है तो फिर अन्य की क्या बात! देह मंदिर में विराजमान भगवान आत्मा अशरीरी है, वह देह का भी आधार नहीं है, वहाँ बाह्य पदार्थों की क्या बात! कहीं तेरा कर्तृत्व नहीं है, इसलिये तू उनका पक्षपात छोड़ दे। यह वीतरागता का मार्ग है... यह सिद्धपद का पंथ है।

देखो, यह वीतरागता का मार्ग! यह परमात्मा का पंथ! और यह सिद्धपद को साधने का मार्ग! भगवान महावीर ने ऐसे मार्ग से मोक्ष प्राप्त किया और यही मार्ग विपुलाचल पर दिव्यध्वनि में बतलाया था।

भाई, तेरा अदृश्य आत्मा इस दृश्यमान देह का कारण कैसे होगा? तेरा चिदानंद आत्मा इस जड़ पुद्गल का पक्षपाती (कर्ता) कैसे होगा? इसलिये उसके कारणपने का पक्षपात छोड़कर परिणति को अशरीरी चिदानंद आत्मा की ओर उन्मुख कर।

इस दीपावली के मंगल-दिन ऐसी बात समझ कर परिणति को अंतर्मुख करना ही सच्ची दीपावली है। अर्थात् भेदविज्ञानी बनना; स्वसन्मुख होना जिससे सम्यग्ज्ञान के सच्चे दीपक प्रगट होते हैं, वह मंगल है।

आत्मा का वर्तन (आचरण) कैसे सुधरे ?

लोग कहते हैं कि 'वर्तन सुधार' लेकिन वर्तन अर्थात् क्या ? देह की क्रिया में आत्मा का वर्तन नहीं। अर्थात् देह की क्रिया नहीं, किंतु आत्मा के अंतर के भाव हैं। जैसा शुद्ध आत्मा है, उसको समझकर उसमें एकाग्रपन से आचरण करना, वही यथार्थ वीतरागी वर्तन (आचरण) है। और शुद्ध आत्मा को न समझते शुभाशुभ विकार में ही एकाग्रपन से वतरना (आचरण करना), वह उल्टा वरतना है। जहाँ स्वयं के पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वभाव को ही ज्ञान का ज्ञेय किया और उसकी श्रद्धा की, वहाँ ज्ञान और श्रद्धा का वर्तन (वर्ताव) तो सुधर गया अर्थात् ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हुये, चारित्र के वर्तन में अमुक विकार हो, तब भी यह विकार परिणाम के समय भी श्रद्धा-ज्ञान को शुद्धस्वभाव की ओर झुकाकर उसका वर्तन सुधारा जा सकता है; और ऐसा करने से ही धर्म की शुरुआत होती है। पर्याय में विकार होने पर भी, उस ही समय वह विकार को मुख्य नहीं करता, वह विकाररहित ध्रुव चैतन्यस्वभाव को मुख्य करके उसमें श्रद्धा-ज्ञान को झुकाना, उस ही विधि द्वारा शुद्धात्मा जाना जाता है और अपूर्व कल्याण की शुरुआत होती है।

आत्मा त्रिकाल है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, ये तीन मुख्य गुण हैं, उनकी पर्याय में मलिनता है। अनादि से पर के आश्रय से विपरीत परिणमन था, वह स्वभाव के आश्रय सम्यक् होता है। चारित्र में थोड़ी विपरीतता होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान शुद्ध स्वभाव की ओर झुककर शुद्ध आत्मा को श्रद्धा-ज्ञन में लेता है। यही शुद्ध आत्मा को जानने की विधि है। इस विधि से जो शुद्धात्मा को जानता है, उसको ही आत्मा की शुद्धता प्रगटती है।

सत्य सामायिक और प्रतिक्रमण किसको हो ?

सामायिक यानी समता का लाभ होना वह; वह सामायिक कब हो ? आत्मा के त्रिकाल स्वभाव में ज्ञान-आनंद है, ऐसे त्रिकाली स्वभाव को जानकर उसी में जो लीन हो, उसको आत्मा का आनंद प्रगटता है, और राग-द्वेष के अभावरूप वीतरागी समता होती है, वही सामायिक है। ऐसी ही सामायिक को भगवान ने धर्म और मोक्ष का कारण कहा है। तथा वह जीव मिथ्यात्व-

अविरति वगैरह पाप से विपरीत दशा में फिरा, उससे उसको प्रतिक्रमण भी हो गया। ऐसी यथार्थ सामायिक और यथार्थ प्रतिक्रमण शुद्ध आत्मा की समझ बिना कोई जीव को होता नहीं।

[मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास]

आत्मा में अनंत काल से एक सेकिन्ड भी स्वयं के स्वभाव को लक्ष्य में लिया नहीं, उससे उसकी समझ कठिन लगती है और शरीरादि बाह्य क्रिया में धर्म मानकर मनुष्य भव मुफ्त खोता है। आत्मस्वभाव की रुचि से अभ्यास करे तो उसकी जानकारी सरल है, स्वभाव की बात महंगी नहीं होती। प्रत्येक आत्मा में समझने का सामर्थ्य है। लेकिन स्वयं की मुक्ति की बात सुनकर अंदर से उल्लास आना चाहिये तो, जल्दी समझा जाता है। जैसे बैल को जब घर से छोड़कर खेत में काम करने ले जाये, तब तो धीरे-धीरे जाता है और जाते हुये देर करता है, लेकिन जब खेत के काम से छूटकर घर वापिस फिरे, तब तो दौड़ता-दौड़ता आये। क्योंकि उसको खबर है कि अब काम के बंधन से छूटकर चार पहर तक शांति से घास खाना है, उससे उसको उमंगी आती है और उसकी गति में वेग आता है। देखो, बैल जैसे प्राणी को भी रिहाई से उमंग आती है। उसीप्रकार आत्मा अनादिकाल से स्वभाव-घर से छूटकर संसार में भटकता है; श्रीगुरु उसको स्वभाव-घर में वापिस मुड़ने की बात सुनाते हैं। स्वयं की मुक्ति का मार्ग सुनकर जीव को यदि उमंग न आये तो उस बैल में से भी यह जाये! पात्र जीव को तो स्वयं के स्वभाव की बात सुनते ही अंतर में से मुक्ति का उल्लास आता है। और उसका परिणमन स्वभावसन्मुख वेग से झुकता है। जितना समय संसार में भटका, उतना समय मोक्ष का उपाय करने में नहीं लगे, क्योंकि विकार की अपेक्षा स्वभाव की ओर का वीर्य (शक्ति) अनंत है, उससे वह अल्प काल में ही मोक्ष को साध लेता है। लेकिन उसके लिये जीव के अंतर में यथार्थ उल्लास आना चाहिये।

मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास [बछिया का दृष्टांत]

श्री परमात्मप्रकाश में पशु का दृष्टांत देकर कहते हैं कि यदि मोक्ष में उत्तम सुख न हो तो पशु भी बंधन में से छूटने की इच्छा क्यों करे? देखो, बंधन में बँधी हुई बछिया को पानी पिलाने के लिये छोड़ने लगें, वहाँ वह छूटने के हर्ष में उछलकूद करने लगती है; अहा! छूटने के समय गौ का बच्चा भी उमंग से छलांग मारता है-नाचता है। तो अरे जीव! तू अनादि अनादिकाल से अज्ञानभाव से इस संसार बंधन में बँधा हुआ है, और अब इस मनुष्यभव में सत्समागम से यह संसार बंधन से छूटने का समय (अवसर) आया है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हम संसार से छूटकर मोक्ष हो, वैसी

बात सुनाते और वह सुनते यदि तुझको संसार से छूटने की उमंग न आये तो तू उस बछिया में से भी जाये वैसा है ! खुली हाथ में घूमने का और छुट्टा पानी पीने का समय मिलते बंधन हीनता का आनंद मानने में बछिया को भी कैसी उमंग आती है !

तो जो समझने से अनादि का संसार बंधन छूटकर मोक्ष के परम आनंद की प्राप्ति हो—ऐसे चैतन्यस्वभाव की बात ज्ञानी से सुनते कौन से आत्मार्थी जीव को अंतर में उमंग और उल्लास न आये ? और जिसको अंतर में सत् समझने का उल्लास है, उसकी अल्पकाल में मुक्ति हुये बिना नहीं रहै। पहिले तो जीव को संसार भ्रमण में मनुष्य भव और सत् का सुनना ही मिलना बहुत महँगा है, और कभी सत् का सुनना मिला, तब भी जीव ने अंतर में विचार करके, सत् का उल्लास लाकर, अंतर में बैठाया नहीं, उससे ही संसार में भटका। भाई, यह तुझको नहीं शोभता ! ऐसे बहुमूल्य अवसर पर भी तू आत्मस्वभाव को नहीं समझे, तब कब समझेगा ? और यह समझे वगैर तेरे भव भ्रमण का अंत कहाँ से आयेगा ? इसलिये अंदर उल्लास लाकर सत्समागम से यथार्थ समझ कर ले।

[जिज्ञासा]

जीव अज्ञान के कारण अनादिकाल से बैल की तरह दु:खी हो रहा है, फिर भी उससे छूटने की जिज्ञासा भी मूढ़ जीव को होती नहीं। छोटे गाँव में एक किसान पूछता था कि 'महाराज ! आत्मा जन्म लेने में भटकती है, उस भटकने का अंत आये और मुक्ति हो, ऐसा कुछ बतलाईये।' ऐसी जिज्ञासा का प्रश्न भी किसी को ही उठता है। ऐसा बहुमूल्य अवसर बार-बार मिलता नहीं, इसलिये जिज्ञासु हो, अंतर में तुलना करके यथार्थ आत्मस्वरूप क्या है, वह समझना चाहिये; क्योंकि जो शुद्ध आत्मा को पहिचानता है, वह ही शुद्धात्मा की प्राप्ति करता है।

भक्तामर स्तोत्र

प्रवचनकार श्री कानजीस्वामी

[अनुवादक श्री बंशीधर शास्त्री, एम.ए. (बजबज कलकत्ता)]

(भक्तामर स्तोत्र जैन समाज में प्रसिद्ध है। मुनिदशा में झूलनेवाले मानतुंग स्वामी जैसे आध्यात्मिक संत द्वारा रचित जिनेश्वर भगवान की इस स्तुति में कैसे हृदयस्पर्शी आध्यात्मिक भाव भरे हुए हैं। उसे जानकर जिनेन्द्र भक्त-मुमुक्षु का हृदय आनंद से प्रफुल्लित हो उठता है। यह स्तोत्र जितना प्रसिद्ध है, उसकी तुलना में इसमें निहित आध्यात्मिक भाव कम प्रसिद्ध थे। पूज्य कानजी स्वामी ने इस स्तोत्र ऊपर प्रवचन कर इसके आध्यात्मिक भाव खोल दिए। आध्यात्मिक रसयुक्त भक्ति कैसी होती है और भगवान का खरा भक्त कैसा होता है, इसका विशिष्ट स्वरूप इस प्रवचन में जानने को मिलेगा, यह ज्ञान भक्त के हृदय को अत्यंत आनंदित करता है। इसी प्रवचन का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।)

भक्तामर स्तोत्र भगवान आदिनाथ तीर्थंकर की स्तुति है। समवसरण में साक्षात् विराजमान भगवान ऋषभदेव की जैसे देव-देवेन्द्र उनके चरणों में खड़े-खड़े स्तुति करते हैं, मानों वैसे ही श्री मानतुंगस्वामी साक्षात वह स्तुति करते हैं। उन्होंने इस स्तुति में जिनेन्द्र महिमा का अद्भुत प्रपात प्रवाहित किया है।

प्रभो! आपकी आत्मा चैतन्य प्रभा से झलक उठी है, मानो उसकी चमक आकाश में भी चमक रही है, इसप्रकार उनके नख की प्रभा झलक रही है और उसकी किरणों द्वारा इन्द्र के मुकुट की मणि जगमगाती है। हमें देवेन्द्रों की मुकुटमणियों की महिमा नहीं भासती, हमें आपके नखों की प्रभा की महिमा भासित होती है, आपके चरणों की तुलना में इन्द्रों की मणियाँ धुंधली लगती है। इन्द्र के मुकुट की मणि का प्रकाश भगवान के नख के ऊपर पड़ता है, ऐसा न कहकर, भगवान के नखों का प्रकाश इन्द्र के मुकुट ऊपर पड़ता है, ऐसा कहकर इन्द्र के मुकुट की तुलना में भगवान के चरणों की महत्ता बताई है।

हे नाथ! इन्द्र का मुकुट भी आपके चरणों में नमता है, इसी में उसकी शोभा है। तीर्थंकर के

दिव्यरूप की क्या बात? इन्द्रों का रूप भी उनकी दिव्यदेह के सामने निस्तेज हो जाता है। तब आत्मा के अतीन्द्रिय चिदानंदरूप की तो बात ही क्या करनी! केवलज्ञान खिल गया, उसकी महिमा की क्या बात! सर्वज्ञ की स्तुति में लीन व्यक्ति को आत्मा की महिमा का अभ्यास होता जाता है, वही खरी स्तुति है, और उसका ही वास्तविक लाभ है।

हे नाथ! इन्द्र आपके चरणों में (-वीतराग चरणरूप आचरण में) नमन करता है—उससे मैं समझता हूँ कि राग के फलरूप प्राप्त इन्द्रपद की तुलना में वीतरागता से प्राप्त जो सर्वज्ञपद है, वही जगत में श्रेष्ठ और आदरणीय है। चैतन्य की उत्कृष्ट वीतराग पदवी के सामने जगत के सभी पद तुच्छ भासित होते हैं।

प्रभो! मेरा मस्तक आपके चरणों में नमा.. अब और किसी के चरणों में कभी नहीं झुकेगा। आपकी भक्ति के अवलंबन द्वारा मैं भवसागर तर जाऊँगा, वीतराग भावना के अभ्यास द्वारा राग को तोड़कर सर्वज्ञता को पाऊँगा। भगवान जैसा भाव अपने में प्रगट करना ही भगवान की परमार्थ स्तुति है।

प्रभो! आपकी स्तुति करते हुए, आपकी सर्वज्ञता की जब मैंने प्रतीति कर ली, तभी मिथ्यात्व का टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है और पाप का समूह छिन्न-भिन्न होकर भाग जाता है।

देखो! सच्चे भाव से भगवन की भक्ति करने के लिये खड़े भक्त की भक्ति के रंग में भंग नहीं पड़े; वह वीतराग स्वभाव को भूलकर राग का कहीं आदर न करे, यदि उसका बाहर में लक्ष जाये तो वीतराग अरहंतदेव का आदर करें और अन्दर में लक्ष जाये तो वीतरागी आत्मस्वभाव का आदर करे। इसके सिवा वह किसी का आदर नहीं करे। ऐसा करने से वह नि:संदेह वीतरागस्वभाव के आदर द्वारा राग को तोड़कर वीतराग होगा।

भक्त कहता है प्रभो! केवलज्ञान से प्रकट आपकी ज्ञान प्रभा की क्या बात! आपके देह और समवसरण की शोभा भी दिव्य एवं अचिन्त्य है। मुझे जगत का वैभव प्रिय नहीं है, मुझे तो आपके चरणों की भक्ति ही प्रिय है। अहा... अंतरंग में सर्वज्ञ पद को साधते-साधते साधक संतों को भगवान के प्रति भक्ति उमड़ती है। जैसे माता स्नेहवश पुत्र के गुणों का गाना गाती है, वैसे ही भगवान में सर्वज्ञता, वीतरागता आदि जो गुण प्रगट हुए हैं, उनको धुन लगाकर भक्त परमप्रेम से उनके गाने गाता है। वह उन गुणों को अपने में पाता है और उन्हें प्रकट करना चाहता है। इसलिये उनके गाने गाता है। वह यह गायन किसी अन्य के लिये नहीं गाता किंतु अपने में उन गुणों को प्राप्त

करने की जो भावना जगी है, वह उस भावना को ही अपने में मिलाता है—इसीलिये उमास्वामी भगवान ने 'वंदेतद्गुण लब्धये' कहा है।

हे जिनेश! मैंने आपके अचिन्त्य गुणों को देखा है, अतः मुझे आपके प्रति प्रमोद एवं सन्मान का भाव हुआ है। गुणों के परिचय सहित भक्ति ही वास्तविक भक्ति है। ऐसी वास्तविक भक्तिवाला भक्त चाहता है कि हे जिनेन्द्र! केवलज्ञान को प्राप्त कर आपका चैतन्य द्रव्य झलक उठा है, आपके इस चैतन्य प्रकाश की तो क्या बात... उसकी तो अचिन्त्य महिमा है; इस केवलज्ञान के होने पर तीनों लोक में उजाला हो जाता है; उसके साथ साधकदशा में आपके जो पुण्य हुआ था, उसके फलस्वरूप आपका दिव्य शरीर हुआ, उसकी शोभा की भी क्या बात! आपकी आत्मा लोकोत्तर और देह भी लोकोत्तर! चक्रवर्ती और इन्द्र भी हृदय से इसप्रकार आपको स्तुति करते हैं—हे नाथ! यदि हम आपके पास न नमें, तो जगत में हम किसके पास नमें! प्रभो! आपको देखते हुए हमारा हृदय उल्लसित हो जाता है। अहा... आपकी वीतरागता! जगत में उसकी दूसरी जोड़ी नहीं है। इस वीतरागता के प्रति झुका हुआ हमारा हृदय अब कभी राग के प्रति नहीं झुकता है।

हे देव! जगत में मोक्षार्थी जीवों के नमन के स्थान तो आप ही हैं, परमार्थ से मोक्षार्थी के लिये आपका ज्ञानस्वभाव ही आदरणीय है। जो राग की ओर झुकता है, वह तुम्हारा भक्त नहीं। बाहर में कुदेवादि को मस्तक झुकाने की तो क्या बात... यह तो वह करे ही नहीं। जो अंतरंग में सूक्ष्म राग की कणिका से धर्म का लाभ होना मानता है, वह भी राग को मस्तक झुकाने के समान है, वह वीतराग का खरा भक्त नहीं है, वीतराग के भक्त का सिर राग को नहीं झुकता। इन्द्र से विशेष पुण्यवान आपके सिवाय कौन है? पवित्रता और पुण्य में आप ही सर्वोत्कृष्ट हैं; इसलिये मैं आप ही के प्रति झुकता हूँ। जगत के सामान्य जीव इन्द्र को पुण्यवान मानकर उसका आदर करते हैं और वही इन्द्र भगवान जिनेन्द्रदेव का महा भक्तिपूर्वक आदर करता है, मैं ऐसे भगवान की भक्तामर स्तोत्र द्वारा स्तुति करता हूँ।

भक्तिपूर्वक भगवान के चरणों में नमनेवाला इन्द्र मानों कहता है कि हे नाथ! हमारे सिर के मुकुट की मणि की तुलना में आपके पैरों के नाखूनों की विशेष शोभा है। आपके चरणों की भक्ति अज्ञान अंधकार और पाप का नाश करनेवाली है, यह शक्ति हमारे मुकुट की मणि के तेज में नहीं है; इसीलिए हमारा मुकुट युक्त सिर आपके चरणों में झुकता है। प्रभो! आपके आत्मा की सर्वज्ञता का दिव्य तेज तो मुझे ज्ञान प्रकाश देता है और आपके चरणों की भक्ति घने पापरूपी अंधकार का नाश करती है। आपकी भक्ति से पाप का वंश निर्वंश हो जाता है।

हे आदिनाथ जिनेन्द्र! इस भरतक्षेत्र में आप ही आद्यगुरु हैं। आपके अवतार से पूर्व १८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से इस भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग नहीं था। युगलियों और भोगभूमि की रचना थी, पश्चात् इस चौबीसी में आद्य तीर्थंकर हुए। आपने ही मोक्षमार्ग चलाया, इसलिये आप ही धर्मयुग के आदि तीर्थंकर हैं और आप ही आद्य गुरु हैं।

भवसागर में पतित जीवों को मोक्षमार्ग बताकर आपने उन्हें अवलंबन दिया। आपने अनेक जीवों को भवसागर से निकाला। अहा! आपने ही वीतराग विज्ञानमय धर्म की शुरुआत की थी। हमारी आत्मा में अनादिकाल से धर्म का अभाव था। अब आपके प्रताप से हमारे में धर्म का प्रारम्भ हुआ। प्रभो! मैं आपके धर्म का साधक बनकर आपके चरणों में नमा, तब मेरे मिथ्यात्वादि पापों की शृंखला टूट गई और मुझे भवसमुद्र से तरने का अवलंबन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मिल गया।

देखो, अपनी आत्मा को भगवान के मार्ग में शीघ्र मिलने के लिये यह भक्ति की जाती है। भगवान ऋषभदेव तीर्थंकर इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में हुए थे और स्तुतिकार आचार्य मानतुंग पंचम काल में हुए थे। दोनों में असंख्य वर्ष का अंतर था, फिर भी स्तुति से ऐसा लगता है कि भगवान अभी प्रत्यक्ष सामने विराजमान हों। हे प्रभो! आपके चरणों की भक्ति संसार समुद्र से तरने के लिये आलंबनरूप है। आपका वीतरागी उपदेश भवसमुद्र से तारनेवाला और मोक्ष का देनेवाला है। प्रभु! मैं आपका और आप द्वारा प्रदत्त उपदेशित वीतरागता का अवलंबन करता हूँ, वही भवसमुद्र से तरने के लिये सहारा है। अहा! तेरी भक्ति तो मुक्ति देनेवाली है। शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का ध्येयपूर्वक वीतरागभाव को भजते-भजते साधक, संसार समुद्र को तरकर मोक्ष पाता है। इसप्रकार हे नाथ! संसार से तरने के लिये आप मुझे आलंबनरूप हैं। देखो, राग के लिये या संसार शरीर भोग के लिये आपका आलंबन है, ऐसा नहीं कहा किंतु मात्र वीतरागभावरूप धर्म के लिये ही भगवान अवलंबनरूप हैं, ऐसा कहा है, क्योंकि भक्ति आदि का राग हो और पुण्य बँधे, इस पर भगवान के भक्त का लक्ष्य नहीं है।

भगवान के सच्चे भक्त का लक्ष तो आत्मा की शुद्धि ऊपर ही है। भगवान ने जैसा किया, वैसा ही वह करना चाहता है। भगवान ने तो वीतरागभाव को सेवन किया और राग को छोड़ा तो भक्त भी ऐसा ही करना चाहता है। जो भगवान के कृत्यों से विरुद्ध काम करे अर्थात् राग का आदर करे (-शुभराग करनेयोग्य है, ऐसा माने—पराश्रित भाव को भला माने), उसे भगवान का भक्त कैसे कहें? इसलिये भगवान के भक्त का उत्तरदायित्व है कि वह प्रारम्भ से ही वीतरागभाव को ही आदरणीय माने—राग के किसी अंश को भला न माने।

इस भक्तामर स्तोत्र को बहुत लोग पढ़ते हैं किंतु उन्हें प्राय: यह ज्ञान नहीं रहता कि इसमें वीतरागता का कैसा अद्‌भुतभाव भरा हुआ है। चैतन्य की महिमा के सामने देवों की ऋद्धि भी जब तुच्छ है, तब जो बाह्यऋद्धि, रुपया-पैसा आदि की प्राप्ति की भावना से जो भक्तामर बोलता है, उसे भगवान की भक्ति करना नहीं आता। अरे मूढ़! वीतराग की भक्ति द्वारा तू संसार की इच्छा करता है? इस वीतराग की स्तुति में संसारनाशक मोक्ष का मंत्र है, भव रोग मिटानेवाला मंत्र इसमें भरा हुआ है।

स्तुतिकार कहता है कि 'सम्यक् प्रणम्य' मैं सम्यक् प्रकार प्रणाम कर स्तुति करूँगा। मात्र शब्दों या राग से नहीं, अपितु 'सम्यक् प्रकार' अर्थात् वीतरागभाव का अपूर्व अंश प्रगट करके, हे जिनेन्द्र! मैं आपकी स्तुति करूँगा। सम्यग्दर्शन ही भगवान का प्रथम परमार्थ स्तवन है। सर्वज्ञदेव के गुणों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही उसे लक्ष्य में लेना सर्वज्ञ की स्तुति है।

भगवान ऋषभदेव मुनि होने से पहले एक बार अयोध्या के राज्य-दरबार में बैठे थे। इन्द्र देव-देवियों के नृत्य पूर्वक भक्ति करता था। नीलांजना नामक अप्सरा की आयु नृत्य करते-करते पूर्ण हो गई और एकाएक उसका शरीर विलय हो गया। ऐसी क्षणभंगुरता देखते ही भगवान को संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने स्वयं दीक्षित होकर केवलज्ञन साधा। तत्पश्चात समवसरण-धर्मसभा में इनकी दिव्यध्वनि द्वारा धर्म का प्रारम्भ हुआ। अनेक भव्य जीवों ने धर्म पाया और इस क्षेत्र में इस काल में मोक्ष जाना प्रारम्भ हो गया।

पहले इस भरतक्षेत्र में असंख्य वर्षपर्यंत युगलिया जीव मरकर एक देवगति में ही जाते थे किंतु जब तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का दिव्यघोष प्रारम्भ हुआ, तब धर्म प्राप्त कर जीवों का मोक्ष में जाना प्रारम्भ हुआ, और सच्चे कल्याणमय धर्म का विरोध करने लगे, वो नरक में भी जाने लगे। इसप्रकार मोक्षगति और नरकगति का द्वार खुल गया, किंतु भगवान तो धर्म के ही आदिनाथ हैं, न कि पाप के। भगवान का उपदेश तो संसार से तरने का निमित्त है, न कि पाप का। इसलिये भक्त कहता है कि—हे भगवान! जैसे महल पर चढ़नेवाले को सीढ़ी का सहारा है, उसप्रकार मोक्षगमन की श्रेणी में चढ़ते हुए मुझे आपके चरणों की भक्ति का सहारा है। आपकी वीतरागता और सर्वज्ञता का बहुमान मुझे संसार में नहीं डुबाता। आपके चरणों का सहारा लेनेवाला भव्य जीव, परभाव में जाने से बचकर मोक्ष को साधता है। आपने मोक्षमार्ग बताया; इसलिये आप ही मोक्षमार्ग के नेता हैं, आप ही मोक्षमार्ग में नेतृत्व करनेवाले हैं।

देखो तो ! कैसे सुन्दर भाव से स्तुति की है।

प्रभो ! मैं आपकी स्तुति करता हूँ। आपकी स्तुति कौन नहीं करे ! मोक्ष का इच्छुक जीव आपकी ही स्तुति करता है और उसे आपके ही मार्ग का आदर रहता है। अहा ! जगत में जितने उत्तम जीव हैं, वे सब आपकी ही स्तुति करते हैं।

प्रश्न— भगवान तो परद्रव्य है, सम्यक्त्वी भला परद्रव्य की स्तुति करे ?

उत्तर— भाई ! तुमने अभी वीतराग परमात्मा के गुण की महिमा नहीं जानी, इसलिये तुझे ऐसा प्रश्न उठता है। सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति स्तुति का जैसा भाव ज्ञानी को होता है, वैसा अज्ञानी को नहीं होता। भगवान है तो परद्रव्य किंतु जब धर्मी जीव अपनी इष्ट साध्य वीतरागता और सर्वज्ञता को भगवान में देखता है तो उसका हृदय उल्लसित हो जाता है। जिसे वीतरागता का प्रेम है, हेय-उपादेय का भाव भासित हुआ है, वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को देखते ही भक्ति करता है। भक्ति के समय शुभराग है किंतु उसमें वीतरागस्वभाव का ही बहुमान रहता है और इसी का नाम वीतराग की भक्ति है।

चैतन्य की अचिंत्य शक्ति की महिमा शब्दों से पूरी प्रकट नहीं हो सकती। समवसरण में १००८ नामों से उत्तम स्तुति करने के बाद भी इन्द्र यही कहता है कि हे नाथ ! इन शब्दों या विकल्पों से आपकी स्तुति पूरी नहीं हो सकती। जब इस विकल्प को तोड़कर निर्विकल्परूप से स्वरूप में स्थिर होऊँगा और वीतराग होऊँगा, तभी आपकी स्तुति पूरी होगी।

अहा ! केवलज्ञान के दिव्यप्रकाश सहित तीर्थंकरदेव समवसरण में गणधर और मुनिवरों की सभा मध्य विराजमान हो और इन्द्र नम्रतापूर्वक उनकी (भगवान की) स्तुति करता हो, उससमय उस स्तुति को सुनकर तीन लोक के जीव मुग्ध होकर स्तब्ध हो जाते हैं। देव तो क्या ? तिर्यंचों का समूह भी स्तब्ध हो जाता है कि अरे ! यह स्तुति करनेवाला कौन ? इन्द्र जैसा व्यक्ति जिनकी ऐसी स्तुति करे, उन भगवान की कितनी महिमा ? इसप्रकार सर्वज्ञता की महिमा में गहरे उतरते हुए कोई जीव सम्यग्दर्शन भी पा जाता है। अहा.. सर्वज्ञ की स्तुति किसका मन मुग्ध नहीं करती ? जो जीव आत्मा का हित करने के लिये तैयार हुआ। वह भगवान सर्वज्ञदेव की स्तुति न सुने और उसका चित्त भक्ति से दोलायमान न हो, ऐसा होता नहीं।

स्तुतिकार श्री पद्मनन्दी आचार्य एक बार चंद्र विमान में हिरण जैसी छवि देखकर भक्ति-महिमा द्वारा कहते हैं कि अरे ! मृत्युलोक का हिरण भी भगवान की स्तुति सुनने के लिये उड़कर

चंद्रलोक में गया तो मनुष्य को भक्ति का उलास न आवे, ऐसा कैसे हो। सूर्य-चंद्र ज्योति देवों के विमानों में शाश्वत रत्नमय जिनबिम्ब हैं। चंद्रमा के अंदर हिरण जैसी छवि है, वह कलंक नहीं है अपितु देव-देवियाँ चंद्रलोक में भगवान की स्तुति करते हैं, उस सुमधुर स्तुति का गुणगान सुनने का रसिक हिरण मृत्युलोक से उड़कर चंद्रलोक में भगवान के गुणगान सुनने के लिये गया है। वाह! भगवान का भक्त सर्वत्र भगवान की ही महिमा देखता है, उसके हृदय में वीतरागता की महिमा गूँज रही है।

मानतुंगस्वामी ने इस भक्तामर स्तोत्र में भक्ति का अनुपम स्रोत बहाया है। अंतरंग में सत् श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र द्वारा सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की सेवना परमार्थ भक्ति है और बाहर में सर्वज्ञ परमात्मा को देखकर उसके प्रति प्रमोद भक्ति-बहुमान का भाव व्यवहार भक्ति है।

यहाँ मानतुंगाचार्य को प्रभु भक्ति का उत्साह आया है। अहो! सर्वज्ञ जैसा मेरा नित्यज्ञान स्वभाव है, ऐसी अनुभूति हुई है और साथ में इस भक्ति का भाव आया है। मुनिराज उपसर्ग के समय जेल में बैठे-बैठे यह स्तुति कर रहे हैं कि प्रभो! तेरे भक्त को बंधन कैसा? जो तेरी भक्ति करे, उसके संसार के बंधन छूट जाते हैं। मेरी बुद्धि और शक्ति भले ही थोड़ी हो किंतु भक्तिभाव पूरा है। बाह्य संयोग संसार नहीं है किंतु मिथ्यात्व रागादि दोष ही संसार है, उसका नाश करना नहीं पड़ता; जैसे प्रकाश द्वारा ही अंधेरा उत्पन्न नहीं होता, उसीप्रकार स्वसन्मुख ज्ञातापनरूप निश्चय परमात्मा की भक्ति; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मलीनता होते ही उस संसार की उत्पत्ति नहीं होती। सम्यक्त्व ही प्रथम भक्ति है।

अहा! केवलज्ञान के दिव्य प्रकाश सहित तीर्थंकरदेव मानों साक्षात् समवसरण में विराजमान हो, गणधर और मुनिवरों की सभा ऐसी बारह प्रकार के श्रोताओं की सभा के मध्य तीर्थंकरदेव विराजमान हो और इन्द्र नम्रतापूर्वक स्तुति करता हो, उस समय उस स्तुति को सुनकर तीन लोक के जीव मुग्ध होकर स्तब्ध हो जाते हैं। देव तो क्या; तिर्यंचों का समूह भी स्तब्ध हो जाता है कि अरे.. यह स्तुति करनेवाला कौन? इन्द्र जैसा व्यक्ति जिनकी ऐसी स्तुति करे उन भगवान की कितनी महिमा! इसप्रकार सर्वज्ञता की महिमा गाई है।

प्रभो! आपने तो मोक्ष का ही उपदेश दिया है। जो मोक्ष के सिवा अन्य वैभव की इच्छा करता हो, वह सच्चा भक्त नहीं है। जो राग को चाहे, वह पुण्य की रुचिवाला है; वह भगवान का कैसा भक्त? अहो! जिसने भेदविज्ञान बल द्वारा अपनी सर्वज्ञता को लक्ष्य में लेकर चित्त को

आपकी भक्ति में लीन किया, उसे जगत का भय नहीं होता। तेरी भक्ति करते हुए अपने सर्वज्ञस्वभाव का मुझे ज्ञान हो गया और स्वभाव की शरण ली, तब हे नाथ! क्रूर कर्म के उदय रूपी सिंह या प्रतिकूलता अपनी दौड़ में मुझे दबा नहीं सकते। किसी भी कर्मोदय या संयोग में ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरी भक्ति को तोड़ सके। प्रभो! सर्वज्ञस्वभाव के सन्मुख होकर में आपकी भक्ति करता-करता आपके जैसा होऊंगा। [गुज० आत्मधर्म, अंक २५० से साभार उद्धृत]

व्यग्रता और निराशा को झटकार डालो

''मुमुक्षुपन जैसे मजबूत हो वैसा करो। हारने अथवा निराश होने का कारण कुछ नहीं। दुर्लभ योग जीव को प्राप्त हुआ, वह फिर थोड़ा प्रमाद छोड़ देने में जीव को उलझन या घबड़ाना जैसा अथवा निराश होना जैसा कुछ ही नहीं।'' [श्रीमद् राजचन्द्र, ८२९]

★

भगवती-आराधना

समंतभद्र स्वामी के शिष्य शिवकोटि आचार्य द्वारा रचा हुआ २१६६ गाथा का यह महान ग्रंथ आराधना शास्त्र—जिसमें मुनियों के आचरण की प्रधानतापूर्वक चार आराधना का भावभीना वर्णन किया है—वह गुरुदेव को विशेष प्रिय है, उसमें भी उग्र पुरुषार्थ प्रेरक 'कवच अधिकार' का तो वे बारम्बार प्रवचन में वर्णन करते हैं.. जो सुनते ही मुनिवरों के प्रति अतिशय भक्ति से श्रोता का हृदय आर्द्र हो जाता है.. और हृदय समक्ष ऐसा दृश्य खड़ा हो जाता है कि मानो जंगल में मुनियों का समूह विराज रहा है.. उसमें से किसी एक मुनिराज के समाधिमरण का प्रसंग है, अनेक मुनिवर भक्ति और वात्सल्य से मुनि सेवा में तत्पर हैं.. अंत समय की तैयारी में मुनि को कदाचित् पानी की इच्छा हो 'पा.. नी' ऐसा बोला जाता है... वहाँ दूसरे मुनि अथवा आचार्य स्नेह से-मिठास से मूसलाधार वैराग्य उपदेश की धारा बरसाकर इसकी पानी की वृत्ति नष्ट कर देते हैं (तोड़ डालते

हैं): अरे मुनि! इस समय आराधना का और समाधिमरण का अपूर्व अवसर है, इस समय तो निर्विकल्प शांतरस के पानी पीने का अवसर है.. उसमें बीच में यह वृत्ति क्या!! आराधना को याद करो, कायर न होवो। स्वयंभूरमण सागर भर जाये, इतना पानी अनंतबार पिया.. इसलिये वह वृत्ति नष्ट करो.. तुम तो चैतन्य के निर्विकल्प अनुभव के अमृत पीनेवाले हो.. इसलिये इस निर्विकल्प आनंद के सागर में डुबकी लगाओ... इस तरह मूसलधार वैराग्य की धार बरसाते हैं और अनेक महामुनियों के उदाहरण देते हैं... यहाँ पहले मुनि भी पानी का विकल्प नष्ट कर पुनः स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं। जैसे लड़ाई में रक्षा के लिये योद्धागण कवच पहिनें; वैसे समाधिमरण के समय आराधना की रक्षा के लिये वैराग्य के उत्तम उपदेश से भरपूर ऐसे गुरु-वचनरूपी कवच का (बख्तर का) अलौकिक वर्णन किया है। भगवती आराधना के इस कवच अधिकार पर तथा अन्य अनेक भागों पर गुरुदेव के प्रवचन किये हुए हैं। एक प्रसंग में—जब एक आचार्य वैराग्य से स्वयं का आचार्यपद छोड़कर दूसरे आचार्य को सोंपते हैं और संघ के मुनियों से क्षमा माँगकर हितोपदेश देते हैं, और उस समय संघ के मुनि भी आचार्य के प्रति भक्ति से गदगद होकर परम उपकार के उद्‌गार कहते हैं, तथा क्षमा माँगते हैं; इस समय के इन मुनियों के, इन गुरु शिष्यों के परस्पर के अचिंत्य वात्सल्यभाव का यथार्थ कथन स्वामीजी ने प्रवचन में उपस्थित किया, तब श्रोताजनों के नेत्र आँसुओं से भीज गये थे। स्वामीजी 'भगवती आराधना' हाथ में लें, वहाँ ही मुनिवरों का जीवन नजर के सामने तैरने लगता है। [अभिनंदन ग्रंथ से]

ज्ञान दीपक चिरंजीवो

बाहुबली भगवान, कुन्दकुन्द धाम वगैरह की तीर्थयात्रा करके और बम्बई वगैरह में प्रतिष्ठा महोत्सव करके वैशाख कृष्णा अष्टमी को सोनगढ़ आये बाद प्रथम प्रवचन समय शांत-अध्यात्म वातावरण के बीच पूज्य श्री कहान गुरु ने कहा—सम्यग्ज्ञान दीपक... मंगलरूप है... वह चिरंजीवो... इस ज्ञान में कोई राग का अथवा संयोग का घेरा (रोक) नहीं... सबसे छूटा यह ज्ञान स्वयं मंगलरूप है।

यह 'समयसार-भागवत' पढ़ा जाता है। उसमें २२९वीं गाथा में सम्यग्दृष्टि के नि:शंकित अंग का यह वर्णन है। इन नि:शंकता वगैरह गुणों द्वारा धर्मात्मा को क्षण-क्षण निर्जरा होती जाती है। आत्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव-जिसके स्वभाव में रागादि परभावों का अभाव—ऐसे ज्ञायक-स्वभावमय सम्यक्त्वी का परिणमन है, यह ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी नहीं। जगत में जैसे जड़ हैं, जैसे रागादि परभाव हैं, वैसे ज्ञायकस्वभाव भी है, वह ज्ञायकस्वभाव की शोधनेवाली दृष्टि में रागादि का अथवा कर्म का अभाव है। ऐसे दृष्टिवंत धर्मात्मा को नि:शंकता के कारण निर्जरा ही होती है।—यह अपूर्व मंगल है।

चैतन्य राजा स्वयं की स्वभावसत्ता में आया, वहाँ उसमें परभाव का प्रवेश ही नहीं—तो उसमें कर्मबंधन की शंका क्यों हो? मेरा ज्ञायकभाव कर्मबंधन से वध जायेगा—ऐसी शंका धर्मात्मा को नहीं; वह नि:शंक है कि मेरा आत्मा ज्ञायकस्वभावमय ही है। चिदानंदरस से भरपूर मेरा आत्मा, उसमें परिणत हुआ मेरा ज्ञान निर्विकल्प है। उसमें बंधन करनेवाला मिथ्यात्वादिभावों का अभाव है। इसलिये ऐसे दृष्टिवंत धर्मात्मा को मिथ्यात्वादि कृत बंधन होता ही नहीं, सम्यक्त्वादि से निर्जरा ही होती है, इसका नाम धर्म.. और इसका नाम शांति।

अंतर में बिल्कुल निराली आत्मवस्तु, वह लौकिक बुद्धि से हाथ में आये वैसी नहीं; राग से भी पार अंतर की दृष्टि से जहाँ इसका पता लगा, वहाँ कर्मबंध टूटने लगे, और आत्मा छूटने लगा, सम्यक्त्वी की निर्जरा की यह स्थिति है। अहो! इसमें जगत से वैराग्य.. और अंतर की कितनी शांति! वह अज्ञानी को पता लगे वैसा नहीं।

मुक्ति स्वरूप आत्मा जो दृष्टि में आया, उस दृष्टि में.. बंधन कैसा? ऐसी दृष्टि को अन्य

किसी का अवलंबन नहीं। पहिले विकल्प था, उसकी सहायता से ऐसी दृष्टि प्रगट हुयी, ऐसा नहीं। यह दृष्टि निरालम्बी है, राग के विकल्प का इसमें अभाव है। एकबार ऐसी दृष्टि हुयी, वहाँ निःशंकता वगैरह आठ गुण प्रगट हुये। अंतर में इसका भावभासन हो तो मार्ग प्रगट हो। विकल्पों के और शरीर के नाटकों से भिन्न, पुद्गलों के स्वांगों से पार ज्ञायकमूर्ति आत्मा है; इसके ही अवलंबन से लाभ है। यह ज्ञायक तत्त्व किसी से बिल्कुल घिरा (फँसा) हुआ है ही नहीं, राग का घेरा भी उसको नहीं, राग भी उससे बाहर ही है। अरे, ऐसा निरुपाधि तत्त्व, सबसे अत्यंत भिन्न है, वह प्रतीति में आते ही अन्यत्र कहीं भी आत्मबुद्धि नहीं रही, कोई परभाव में अटकने का न रहा, परिणाम स्वभावभाव की ओर झुका... यानी शुद्धता ही होने लगी, परभाव से पृथक् ही पृथक् रहने लगा, ऐसी धर्मी की दशा है।

यात्रा के बाद यह सोनगढ़ में मंगलाचरण होता है। सम्यक्ज्ञान का दीपक... यह चिरंजीवो... यही मंगलरूप है। स्वसत्ता के अंतर्मुख अवलंबनरूप परिणति में से परभाव खिर गये हैं... वह परिणति ही निर्जरा है, और वही मंगल है। वीतरागी जैन संदेश तो ऐसा करने को बतलाता है। परभाव का अवलंबन करने को बतलावे, वह 'जैनसंदेश' नहीं; धर्मात्मा को कहीं भी किसी पर के अवलंबन की भावना ही नहीं। स्वभाव के अवलंबनरूप भाव को ही वह स्वयं का जानता है, और उस भाव से ही उसको निर्जरा होती है; सम्यक्त्व के आठों गुण (अंग) उसमें निहित हैं।

★★

दुःषम काल में सावधानी

वर्तमान में दुःषम काल वर्त रहा है। मनुष्यों के मन भी दुःषम ही देखने में आते हैं। अधिकांश तो परमार्थ का दिखावा करके स्वेच्छा से वर्तते हैं।

ऐसे काल में किसका संग करें, किसके साथ कितना बोलें, किसके साथ अपने कितने कार्य-व्यवहार का स्वरूप विदित किया जा सकता है—यह सब लक्ष में रखने का समय है। नहीं तो सद्वृत्तिवान जीव को यह सब कारण हानिकर्ता होते हैं। इसका आभास तो अब आपके भी ध्यान में आता होगा।

—श्रीमद् राजचन्द्र

पंचपरमेष्ठी के स्मरण से विघ्न दूर होते हैं

श्री पंचपरमेष्ठी को पहिचानकर उनका स्मरण-वंदनादि करने से विघ्न दूर होते हैं—ऐसा कहा है। वहाँ विघ्न का अर्थ बाह्य संयोग नहीं समझना चाहिये, परंतु आत्मा में उस समय तीव्र कषाय दूर हो जाती है। तीव्र कषाय ही विघ्न है और उस विघ्न का पंचपरमेष्ठी के स्मरण से नाश होता है। पंचपरमेष्ठी का ध्यान करने पर भी बाह्य में सिंह खाये जा रहा हो, ऐसा भी संयोग होता है, परंतु वह संयोग कोई विघ्न नहीं है। परंतु उस समय पंचपरमेष्ठी के स्मरण से उस संयोग का लक्ष छूट जाता है और पापभाव दूर हो जाता है, वही विघ्न का दूर हो जाना है। बाह्य संयोग रहे या दूर हो, उसके साथ कोई संबंध नहीं है।

चैतन्य की पर्याय में जो विकार होता है, उसे जाने और उस विकार से रहित चैतन्यस्वभाव को जाने, तब भेदज्ञान होता है। शरीरादि जड़ की क्रिया से भिन्न और मिथ्यात्वादि विकार से रहित ऐसे चैतन्यस्वभाव की प्रतीति एवं ज्ञान करना ही मोक्ष का प्रथम उपाय है।

दर्शन-ज्ञानस्वभाव की पहिचान होने के पश्चात् विशेष अभ्यास द्वारा स्वभाव की स्थिरता करता है, तब संत-मुनिदशा प्रगट होती है; उस दशा में वस्त्रादि परिग्रह का राग नहीं होता, इसलिये वहाँ वस्त्रादि नहीं होते, सहजरूप से ही वस्त्रादि छूट जाते हैं। वहाँ वस्त्रादि का छूट जाना तो जड़ की क्रिया है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है; आत्मा स्वरूपस्थिरतारूप क्रिया का ही कर्ता है और वही सच्ची मुनिदशा है। धन्य है वह मुनिदशा! जो रात और दिन-निरंतर स्वरूप के परमामृतमय निराकुल स्वाद का अनुभव कर रहे हैं, एक समय भी प्रमाद किये बिना केवलज्ञान स्वरूप की साधना कर रहे हैं, जो स्वरूप साधन करते हुए कभी थकते नहीं है—ऐसे परम पुरुष श्री संत मुनिश्वर भगवंतों के चरण—कमल में नमस्कार हो! उस परमदशा के बिना मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा भी परमेष्ठी पद है और उसके स्मरण द्वारा भी आत्मा में से विघ्नकारी ऐसे अशुभभाव दूर होते हैं। उसकी प्रतीति एवं भावना द्वारा मंगल भाव प्रगट होते हैं।

भजन

★

मंगल वर्धन जिनवाणी आईजी, आनंद वर्धन प्रभूवाणी आईजी।
कर्ता पर का बन रह्याजी, तन धन जन अपनाय
कर्तृत्व मद बेहद छायोजी—२
ल्याई तो राग न आवतीजी, धक्के से द्वेष न जाय,
समझ निज व्यर्थ गमावेजी—२
पर मुंह तकता मोह में जी, माने है सुख परमांय,
दुखद वर्धन दुर्मति छावेजी—२
वस्तु कोई तो ना कहेजी, जीव तूँ मोह रचाय,
स्वयं जीव मोह रचावेजी, स्वयं जीव दुख मचावेजी।
पर कोई अपना नां हुवेजी, व्यर्थ कोलाहल त्याग,
मर्यादा स्व-पर अंतस् ल्यावोजी—२
स्वपर ज्ञायक जीव है जी, होता दिखे स्वयं विश्व,
समझ निज सम्यक् होवेजी—२
लक्ष आतम का राखनाजी, समझ स्वयं आवे काम,
परिणति चेतन निजघर आवेजी—२

—आत्मार्थी

सम्यगदर्शन के लिये आत्मार्थी का उल्लास और

निर्विकल्प अनुभूति

सम्यग्दर्शन के सन्मुख हुआ जिज्ञासु जीव को अपना कार्य करने में अत्यंत हर्षित होने से अंतरंग प्रीति से उस कार्य को करने का उद्यम करता है। अपना कार्य का अर्थ है, सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, यही इसके जीवन का ध्येय है—यही इसके जीवन का साध्य है। इसीलिये सम्यग्दर्शन के पाने के लिये उल्लासपूर्वक निरंतर प्रयत्न करता है, उसमें प्रमाद नहीं करता। अपना आत्मकार्य सिद्ध करने के लिये आत्मार्थी के परिणाम-भाव हमेशा उल्लसित रहते हैं। सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अन्य कार्य उसको दिखलाई नहीं देते, इसलिये उनमें उसे मजा नहीं होता, निज कर्तव्य को एक क्षण के लिये भी नहीं भूलता—ऐसा जीव अल्प काल में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

तत्त्वविचार करके भी जब अंतर में स्वसन्मुख होता है, तब ही निर्विकल्पदशा में ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। केवल तत्त्वविचार ही कोई सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन हुआ, यह कब कहा जा सकता है ? कि जब स्वरूप सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति होती है—अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है, तब ही यथार्थ सम्यग्दर्शन हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। वह ही यथार्थ प्रतीति है; इसके बिना यथार्थ प्रतीति नहीं कही जाती। तत्त्वविचार में गहरे उतरकर —अंतर्मुख होकर स्वरूप की निर्विकल्प अनुभूति न करे, तब तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता। अंतर में चैतन्यस्वभाव की परम महिमा लाकर, उसे लक्षगत कर, उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना—प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करना—वह सम्यग्दर्शन है। निर्विकल्प अनुभूतिपूर्वक ऐसे सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के पश्चात् ज्ञानी की सविकल्पदशा में भी वह सतत बना रहता है। जिज्ञासु को सम्यक् आराधना का प्रयत्न निरन्तर करना परम कर्तव्य है।

तत्त्वचर्चा

सोनगढ़ मंगसर सुदी ११, शनिवार, तारीख ४-१२-६५ रात्रि चर्चा में से

प्रश्न—नियतवाद को गोम्मटसार में एकांत मिथ्यात्व कहा है तो फिर भगवान सबको नियत ही देखे और नियत का ही उपदेश दे, यह कैसे बने ? अत: सर्वज्ञ ने नियत-अनियत दोनों देखा है, ऐसा पूर्वपक्ष का मंतव्य बराबर है ?

उत्तर—ना, सर्वज्ञ भगवान ने पाँचों समवाय सहित सब सुनिश्चित ही देखा है।

प्रश्न—भगवान सर्वज्ञ हैं, त्रिकालज्ञ नहीं हैं, बराबर है ?

उत्तर—ना, क्योंकि सर्वज्ञता में सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल, भाव युगपत अत्यंत स्पष्ट सर्वथा स्पष्ट ज्ञात होता ही है, उसमें त्रिकालज्ञता आ जाती है, जानने में कुछ भी शेष रहता नहीं।

अब प्रथम प्रश्न का जवाब—सर्वज्ञ सर्व को सब प्रकार से सुनिश्चित जानते हैं, यह कथन धवला पुस्तक १३ में भी विस्तार से है। सर्वज्ञ ने मात्र नियति ही नहीं देखा, उसका अर्थ साथ में स्वभाव, पुरुषार्थ, काल और सम्यक् नियति और कर्मादि सब सुनिश्चित देखा है, वही बात बराबर है।

भगवान ने एकांत नियतिवादी को नहीं किंतु एकांत स्वभाव या एकांत पुरुषार्थवादी को भी मिथ्यादृष्टि कहा है।

भगवान ने सब सुनिश्चित और कारण-कार्यसहित देखा है, यह जानना सम्यग्ज्ञान नाम कब पाता है कि—अपना सर्वज्ञस्वभाव कैसा महिमावंत हैं, बराबर जानकर उसको स्वसन्मुख स्वीकार किया, दृष्टि अकर्ता ज्ञाता ही हूँ, उसमें काम करने लगी, वहाँ करने का क्या रहा ? ज्ञान क्या करे ? ज्ञान आस्रव को करे ? कि जाने ? राग को करना नहीं है, राग का ग्रहण-त्याग, राग को रोकना-लाना ज्ञान का कार्य नहीं है। ज्ञान को भी रोकने, न रोकने का विकल्प छोड़कर ज्ञान को ज्ञान ही जानना, उसका नाम स्वसन्मुख ज्ञातापन और पर में तथा रागादि में अकर्तापन अर्थात् ज्ञातापन का सच्चा पुरुषार्थ है। प्रथम श्रद्धा में; स्वामित्व में सच्चेपन का ग्रहणरूप स्वरूपाचरण के साथ आंशिक वीतरागता, स्वाश्रय निश्चयधर्म चौथे गुणस्थान से शुरु हो जाता है।

धर्म का मूल सर्वज्ञ है

सर्वज्ञ का निर्णय करनेवालों को तो पाँचों समवायसहित द्रव्य सन्मुख दृष्टि होती है।

केवलज्ञान बेहद अनंत है। समस्त अपार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को युगपत् जाने, ऐसे स्वभाव की क्या बात.. क्या महिमा..! श्रुतज्ञान भी बेहद अनंत समस्त को जानता है, ऐसा श्रुतज्ञान पर्याय का अनंत सामर्थ्य है तो केवलज्ञान—प्रत्यक्षज्ञान पर्याय का कितना सामर्थ्य! और ऐसी अनंत पर्याय के धारक एक ज्ञानगुण और अनंत गुण के धारक ज्ञायाक की क्या महिमा... यहाँ ज्ञायकस्वभाव को बेहद जानकर अनुभव किया, वहाँ-यहाँ अंदर में ठीक है तो दूसरे का क्या काम है? यदि अंदर में ठीक नहीं है तो दूसरे का क्या काम है। दूसरे को निमित्त होने की बात ही कहाँ रही? दूसरा मुझे ठीक कहे, यह बात कहाँ आई? अहो धन्य है अहा... ऐसी महिमा को बाहर दिखाने की बात भी कहाँ रही—यहाँ अंतरंग में ज्ञातादृष्टा का सर्वांग समाधान वर्तता है तो दूसरे लोग उसे जाने या ठीक कहे या अठीक माने, उससे क्या?... इस बात को ज्यादा संख्या सुननेवाले की हो, उससे क्या। यहाँ अपने को नित्य सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय हो चुका तो दूसरों की अपेक्षा कहाँ है? स्वसन्मुख ज्ञातापन का धैर्य में सम्यक् विवेक और पुरुषार्थ भूमिकानुसार चालू रहता है।

वस्तु स्वभाव का अगाध सामर्थ्य प्रतीति में स्वीकृत हुआ, वहाँ उसे माननेवाली परिणति भी स्वयं अगाध बेहद सामर्थ्यवान हो गई। अगाध सामर्थ्य ज्ञान में प्रगट हो गया है। केवलज्ञान में तो अनंतज्ञता, सर्वज्ञता है ही, किंतु उसका निर्णय करनेवाले स्वसन्मुख ज्ञान में भी अगाध महिमा प्रगट हुई है, उसे अंतरंग में अपूर्व पवित्र कार्य हो ही रहा है। भूमिकानुसार पुरुषार्थ काम करता ही है।

अपनी आत्मा में कार्य सध रहा ही है, वहाँ दूसरे जन जाने ऐसी क्या जरूरत है? अर्थात् दूसरों को दिखाने का या कहने का कहाँ रहता है? अतः ज्ञानी को दूसरों को दिखाने का, प्रसिद्धि में आने का भाव नहीं होता।

श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र

सम्यग्दर्शन की परम महिमा है। दृष्टि की महिमा बताने के लिये सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा है। समयसार गाथा १९३ में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव, जिन इन्द्रियों के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्य का उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है और उसी में मोक्ष अधिकार में छट्ठे गुणस्थान में मुनि के जो प्रतिक्रमणादि की शुभवृत्ति उद्भूत होती है, उसे विषकुंभ कहा है। सम्यग्दृष्टि की अशुभ भावना को निर्जरा का कारण और मुनि की शुभभावना को विष कहा है, इसका समन्वय क्यों कर हो सकता है।

जहाँ सम्यग्दृष्टि के भोग की निर्जरा का कारण कहा है, वहाँ यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि भोग अच्छे हैं किंतु वहाँ दृष्टि की महिमा बताई है। अबंध स्वभाव की दृष्टि का बल बंध को स्वीकार नहीं करता। उसकी महिमा बताई गई है अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा से वह बात कही है। जहाँ मुनि की व्रतादि की शुभभावना को विष कहा है, वहाँ चारित्र की अपेक्षा से कथन है। हे मुनि! तूने शुद्धात्म चारित्र अंगीकार किया है; परम केवलज्ञान की उत्कृष्ट साधकदशा प्राप्त की है और अब जो व्रतादि की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह तेरे शुद्धात्मचारित्र को और केवलज्ञान को रोकनेवाली है। इसलिये वह विष है।

सम्यग्दृष्टि के स्वभाव दृष्टि का जो बल है, वह निर्जरा का कारण है और वह दृष्टि में बंध को तथा शुभाशुभराग को अपना स्वरूप नहीं मानता, स्वयं राग का कर्ता नहीं होता, इसलिये उसे अबंध कहा है, परंतु चारित्र की अपेक्षा से तो उसके बंधन हैं ही। यदि भोग से निर्जरा होती हो तो अधिक भोग से अधिक निर्जरा होनी चाहिये किंतु ऐसा तो नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के जो रागवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे दृष्टि की अपेक्षा से वह अपनी नहीं मानता। ज्ञान की अपेक्षा से वह यह जानता है कि 'अपने पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण राग होता है' और चारित्र की अपेक्षा से उस राग को विष मानता है, दुःख-दुःख मालूम होता है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान और चारित्र में से जब दर्शन की मुख्यता से बात चल रही हो, तब सम्यग्दृष्टि के भोग को भी निर्जरा का कारण कहा जाता है। स्वभाव दृष्टि के बल से प्रति समय उसकी पर्याय निर्मल होती जाती है अर्थात् वह प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। जो राग होता है, उसे जानता तो है किंतु स्वभाव में उसे अस्तिरूप नहीं मानता और इस मान्यता के बल पर ही राग का सर्वथा अभाव करता है। इसलिये सच्ची दृष्टि की अपार महिमा है।

सच्ची श्रद्धा होने पर भी जो राग होता है, वह राग चारित्र को हानि पहुँचाता है, परंतु सच्ची श्रद्धा को हानि नहीं करता, इसलिये श्रद्धा की अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है, वह बंध का कारण नहीं, किंतु निर्जरा का ही कारण है—ऐसा कहा जाता है। किंतु श्रद्धा के साथ चारित्र की अपेक्षा को भूल नहीं जाना चाहिये।

चारित्र की अपेक्षा से छठे गुणस्थानवर्ती मुनि की शुभवृत्ति को भी विष कहा है, तब फिर सम्यग्दृष्टि के भोग के अशुभभाव की तो बात ही क्या है ? अहो ! परम शुद्ध स्वभाव के भान में मुनि की शुभवृत्ति को भी जो विष मानता है, वह अशुभभाव को क्यों कर भला मान सकता है ? जो स्वभाव के भान में शुभवृत्ति को भी विष मानता है, वह जीव स्वभाव के बल से शुभवृत्ति को तोड़कर पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा, परंतु वह अशुभ को तो कदापि आरणीय नहीं मानेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा की अपेक्षा से तो अपने को संपूर्ण परमात्मा ही मानता है तथापि चारित्र की अपेक्षा से अपूर्ण पर्याय होने से तृणतुल्य मानता है, अर्थात् वह यह जानकर कि अभी अनंत अपूर्णता विद्यमान है, स्वभाव की स्थिरता के प्रयत्न से उसे टालना चाहता है। ज्ञान की अपेक्षा से जितना राग है, उसका सम्यग्दृष्टि ज्ञाता है किंतु राग को निर्जरा अथवा मोक्ष का कारण नहीं मानता और ज्यों-ज्यों पर्याय की शुद्धता बढ़ाने पर राग दूर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका ज्ञान करता है। इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों की अपेक्षा से इस स्वरूप को समझना चाहिये।

अनेकान्त का प्रयोजन

''हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य व्यवहार के अनेक विधि-निषेध के कर्तृत्व की महिमा में कोई कल्याण नहीं है। यह कहीं ऐकान्तिक दृष्टि से लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है, ऐसा विचार छोड़कर उन वचनों से जो भी अंतर्मुख वृत्ति होने की प्रेरणा मिले, उसे करने का विचार रखना, सो सुविचार दृष्टि है। ....बाह्य क्रिया के अंतर्मुखदृष्टिहीन विधि-निषेध में कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है।... अनेकांतिक मार्ग भी सम्यक् एकांत-निज पर की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नहीं है; यह जानकर ही लिखा है। यह मात्र अनुकम्पा बुद्धि से, निराग्रह से, निष्कपट भाव से, निर्दम्भता से और हित दृष्टि से लिखा है; यदि इसप्रकार विचार करोगे तो यह यथार्थ दृष्टिगोचर होगा।...'' (श्रीमद् राजचन्द्र, गुजराती, पृष्ठ ३४६-४७)

जीव और कर्म दोनों स्वतंत्र हैं

श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार (अर्थात् अध्यात्म तरंगिणी) के नववाँ अधिकार की ४९वीं गाथा में (पृष्ठ १८६) कहा है कि—

न कर्म हंति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान्।
बध्य घातक भावोऽस्ति नान्योनयं जीव कर्मणोः ॥४९॥

अर्थ—न तो कर्म जीव के गुणों को नष्ट करता है और न जीव ही कर्म के गुणों को नष्ट करता है, इसलिये जीव और कर्म का आपस में बध्य घातक संबंध नहीं।

भावार्थ—'वध्य घातक भाव' नामक विरोध में वध्य का अर्थ मरनेवाला और घात का अर्थ मारनेवाला है, यह विरोध अहिनकुल, अग्नि-जल आदि में देखने में आता है अर्थात् नोला सर्प को मार देता है, इसलिये सर्प वध्य और नोला घातक कहा जाता है तथा जल अग्नि को बुझा देता है, इसलिये अग्नि वध्य और जल घातक होता है; यहाँ पर जीव और कर्मों में यह विरोध देखने में नहीं आता क्योंकि यदि कर्म जीव के गुणों को नष्ट करता अथवा जीव कर्म के गुणों को नष्ट करता, तब तो जीव और कर्म में वध्य घातक भाव नामक विरोध होता। सो तो है नहीं, इसलिये जीव और कर्म में वध्य घातक भाव नामक विरोध नहीं हो सकता।

समाचार संग्रह

सोनगढ़—सुवर्णपुरी तारीख ५-३-६६ पूज्य स्वामीजी सुख शांति से विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे छहढाला श्री पंडित दौलतरामजी कृत तथा दोपहर को श्री नियमसारजी शास्त्र चलता है। छहढाला पूर्ण होने के पश्चात् श्री पूज्यपादाचार्य रचित इष्टोपदेश पर प्रवचन चालू होगा।

श्री जिनवाणी-आगम मन्दिर

श्री रामजीभाई सम्मान कमेटी द्वारा जिनवाणी भवन (-आगम मन्दिर) का शिलान्यास फाल्गुन वदी २, तारीख ७-२-६६ के दिन पूज्य श्री कानजी स्वामी की पावन छत्रछाया में हुआ। [उस अवसर पर खास बम्बई से श्री नवनीतलाल सी. जवेरी (प्रमुख श्री) भी आये थे] उस दिन बड़ा उत्सव मनाया गया था।

रजत जयन्ती महोत्सव

सोनगढ़ में फाल्गुन सुदी २ जिनमन्दिर का २५वीं वर्षगाँठ का रजत जयन्ती उत्सव मनाया गया। आठ दिन तक विविध कार्यक्रम में श्री जिनेन्द्र देव की समूह पूजा, भक्ति, तत्त्वचर्चा, जिनेन्द्र की विशाल रथयात्रा, अभिषेक, अजमेर की भजन मण्डली द्वारा विविध प्रोग्राम, जिनमन्दिर, स्वाध्यायमंदिर, समवसरण जिनमंदिर श्री मानस्तम्भजी, श्री भगवान कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप, तथा नगरी की शोभा-सजावट, बड़ी संख्या में उत्सव में भाग लेनेवाले मेहमान, पूज्य स्वामीजी द्वारा छहढाला तथा परमात्मप्रकाश पर अध्यात्मरस पूर्ण प्रवचन, धर्मरत्न श्री दीपचंदजी सेठियाजी (सरदार शहर) का आगमन और धर्म प्रेम का सुमधुर-उमंगमय वातावरण, दिगम्बर जैन विद्यार्थी भवन के छात्रों द्वारा अकलंक—निकलंक का ड्रामा जो सच्ची धर्म प्रभावना के विविधरूप में जैनधर्म का अनुपम प्रेम आदर्श और वीरता दर्शक था, छात्रों को इनाम बाँटे गये, बालाओं का ड्रामा, इत्यादि धर्म-उत्साहमय कार्यक्रम द्वारा यह उत्सव सम्पन्न हुआ।

अष्टाह्निका महोत्सव

फागुन सुदी ७ से १५ तक श्री नंदीश्वर ५२ जिनालयस्थ जिनेन्द्र पूजा-पंचमेरु तथा तेरह द्वीप संबंधी अकृत्रिम जिनालयस्थ जिनेन्द्रों की पूजा सामूहिक रूप से बड़े ठाठ-बाठ सहित हो

रही है। इसप्रकार राजकोट अहमदाबाद, वींछिया, बम्बई, जामनगर, बांकानेर, फतेपुर, मोरबी, लींबड़ी, सुरेनद्रनगर आदि बहुत जगह से भी समाचार हैं।

उत्तर गुजरात में नूतन दिगम्बर जिनमंदिर

हिम्मतनगर—तारीख ५-२-६६ महावीर नगर में श्री १००८ महावीर भगवान का दिगम्बर जैन मंदिर का शिलान्यास श्री हीरालालजी काला श्री माणिकचंदजी काला (कुचामन निवासी) के शुभ हस्त से हुआ। सोनगढ़ से श्री खेमचंद भाई शेठ तथा बम्बई से श्री नवनीतभाई सी. जवेरी, अहमदाबाद तथा आसपास के गाँवों से बहुत बड़ी संख्या में मेहमान पधारे थे। श्री खेमचंदभाई के द्वारा अपनी उत्तम-सुंदर शैली से अध्यात्म प्रवचन हुए थे, बड़ी संख्या में सब सुनने के लिये आये थे, बड़ा मेला लग गया था। श्री बाबूभाई (फतेपुर निवासी) प्रत्येक उत्तर गुजरात में बड़ा भारी सन्मान है। साधर्मी वात्सल्य प्रेम, उत्साह इतना उत्तम था जो देखते ही बनता था।

जिनमंदिर के लिये ५५ हजार का चंदा हुआ।

श्री महावीर नगर दिगम्बर जैन समाज के द्वारा श्री खेमचंदभाई को सम्मान पत्र दिया गया, जवाब में कहा कि—सम्मान के योग्य तो पूज्य स्वामीजी ही हैं; मैं नहीं। जो वीतरागता प्रगट करनेवाले हैं, वही सच्चे सम्मान के योग्य हैं...

पश्चात् ४२ गाँव के दशाहुमड दिगम्बर जैन ज्ञाति के प्रमुख श्री नवनीतभाई सी. जवेरी (प्रमुख श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट तथा मुमुक्षु महा मंडल) को ४२ गाँव समस्त की ओर से सन्मान पत्र दिया गया, आपका उत्तम यश और धार्मिक पात्रता का परिचय श्री बाबूभाई ने कराया। बाद प्रान्तिज में प्राचीन जिनमंदिर में प्राचीन प्रतिमा-मूर्तियों का संग्रह है, श्री खेमचंदभाई, श्री नवनीतभाई आदि मेहमान वहाँ दर्शनार्थ आये मंदिरजी के जीर्णोद्धार में अच्छी रकम दान में दी गई।

पूज्य स्वामीजी के उपदेश द्वारा—तथा श्री बाबूभाई की सत्प्रेरणा से दहेगाम, रखीयाल-स्टेशन में नूतन जिनमंदिर का निर्माण हुआ और रणासण, हिम्मतनगर-महावीरनगर में नूतन जिनमंदिर बन रहे हैं—जींजवा में बननेवाला है। परस्पर आदर्श साधर्मी वात्सल्य, स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि गृहस्थोचित धर्म सुचारू रूप से होते हैं। श्री बाबूभाई के द्वारा धर्म प्रभावना का कार्य बढ़ रहा है। धन्यवाद।

[ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन]

खास निवेदन

आत्मधर्म मासिक पत्र द्वारा २१ साल से सर्वज्ञ वीतराग कथित पवित्र तत्त्वज्ञान का प्रचार हो रहा है। २१ वाँ वर्ष का चंदा चैत्र मास में समाप्त हो जाता है। खुशी समाचार यह है कि हमारी संस्था के भूतपूर्व प्रमुख श्री रामजीभाई स्मारक की ओर से इस वर्ष के लिये आत्मधर्म का चंदा घटाकर 'दो रुपया' रखा है। मुमुक्षु मंडलों को प्रार्थना है कि ज्यादा से ज्यादा संख्या में आत्मधर्म के नये ग्राहक बनाकर और चालू ग्राहकों से मिलकर आत्मधर्म का चंदा एकत्र करके मनिआर्डर या चैक से भेजने का कष्ट कीजियेगा, ताकि आगामी ग्राहक संख्या का अंदाजा हम लगा सकें। ग्राहक के नाम पूर्ण पते के साथ रेलवे स्टेशन, पोस्ट का जिले का साफ नाम, नये ग्राहक या पुराने ग्राहक ऐसा अवश्य लिखें, प्रथम से ही जिन्होंने चंदा जमा कराया है, भेज दिया है वह भी हमको पत्र द्वारा सूचित करें, आपका ग्राहक नं० भी अवश्य लिखें। वैशाख मास से आत्मधर्म बड़ी साहज में, चित्र, कथा, विशेष लेख, बाल विभाग सहित प्रकाशित होगा। वी०पी० करने में बड़ी कठिनाई रहती है। आशा है कि शीघ्र उपरोक्त सहयोग दें।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

(आत्मधर्म विभाग)

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५–०	जैन बाल पोथी	०–२५
प्रवचनसार	४–०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०–१५
नियमसार	४–०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०–८७
पंचास्तिकाय	४–५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२–५०
आत्मप्रसिद्धि	४–०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१–८५
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५–०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१–४५
स्वयंभू स्तोत्र	०–६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
मुक्ति का मार्ग	०–६०	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०–८५
समयसार प्रवचन भाग १	४–७५	भेदविज्ञानसार	२–०
समयसार प्रवचन भाग २	नहीं है	अध्यात्मपाठ	३–०
समयसार प्रवचन भाग ३	४–२५	भक्ति पाठ संग्रह	१–०
समयसार प्रवचन भाग ४	४–०	वैराग्य पाठ संग्रह	१–०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०–१५
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१–०	स्तोत्रत्रयी	०–५०
” ”द्वितीय भाग	२–०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०–२५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०–६०	‘आत्मधर्म मासिक’ वार्षिक चंदा	३–०
भाग–२ ०–६० भाग–३	०–६०	” फाईलें सजिल्द	३–७५
योगसार–निमित्त उपादान दोहा	०–१२	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०–१२
श्री अनुभवप्रकाश	०–३५	जैनतत्त्व मीमांसा	१–०
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१–०	बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में १८)	
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०–७५	ग्रन्थ का मात्र	६–०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६–०		
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१–५०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।